जलते प्रश्न

संपादक
विश्वनाथ

•

दिल्ली प्रेस
नई दिल्ली

सूची

भूमिका

महायुद्धों के परिणामस्वरूप जहां मारकाट, ध्वंस, विनाश होता है, सरकारें बदलती हैं, वहां सामाजिक उथलपुथल भी होती है, पुरानी मान्यताओं और विचारों में भी क्रांति होने लगती है. गत महायुद्ध का प्रभाव भारत पर भी पड़ा. देश को राजनीतिक स्वतंत्रता मिली, साथ ही सदियों पुराने आचारविचार, विश्वास और दृष्टिकोण खोखले और बेजान प्रतीत होने लगे.

एक हजार वर्ष पुरानी गुलामी से मुक्त होने के प्रयत्न में लगे रहने के कारण अब तक सामाजिक प्रश्नों की ओर उपेक्षा ही रही. राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्त करने के बाद अब समय आगया है जब सामाजिक सुधार के लिए पूरे मनोयोग से प्रयत्न किया जाए, इस क्षेत्र में सिंहावलोकन कर के पुरानी व्यवस्था और पुनीत-से-पुनीत भावनाओं को तर्क की कसौटी पर परखा जाए, जहां आवश्यक हो पुराने बंधनों, गलेसड़े रीतिरिवाजों और दक़ियानूसी विचारों को बेहिचक तोड़ दिया जाए.

आज हमें ऐसी सामाजिक व्यवस्था की आवश्यकता है जिस में व्यक्ति का मान हो, उसकी प्रगति को रोकने वाले बंधन न हों.

इस संग्रह में, एक को छोड़ कर, सभी कहानियों में इस क्रांति काल में व्यक्ति व समाज की विभिन्न विचारधाराओं और समस्याओं के विशेष पहलुओं का विवेचन है. "केले के खंभे" सत्याग्रह आंदोलन की प्रतिक्रिया की कहानी है. "चल गई, पट्ठे!" व "हमीदा" में स्वतंत्रताप्राप्ति के समय की सांप्रदायिक झगड़ों की आग की लपटें हैं. "अजय शिखर" व "जीने का सहारा" स्त्री और पुरुष, पति और पत्नी के आपसी संबंधों और एक की दूसरे से आशाओं की कहानियां हैं. "डाक्टर भरत" और "जलता प्रश्न" में समाज की यौन संबंधी अंधी

व्यवस्था पर जिस में व्यक्ति की भावनाओं को कुचल कर एक नियम को मनवाने का प्रयत्न होता है, चोट की गई है. "ग़लतफ़हमी" मध्य-वर्ग के मातापिता व उनकी संतान के बीच बढ़ते हुए मनमुटावों और उनके कारणों पर प्रकाश डालती है.

परिवार, समाज व राष्ट्र के पुर्ननिर्माण की प्रेरणा देने वाले साहित्य में कहानियों का विशेष स्थान है. जो बात लंबेचौड़े व्याख्यानों और उपदेश भरे लेखों व निबंधों से ठीक प्रकार अपने स्थान पर नहीं पहुंचाई जा सकती, वही बात कहानी के पात्रों द्वारा बड़ी आसानी और दृढ़ता से पाठक के दिमाग़ और दिल को पकड़ लेती है. इस प्रकार इस संग्रह की कहानियां न केवल पाठकों का मनोरंजन करेंगी, वे पाठकों का ध्यान उन जलते प्रश्नों की ओर भी खींचेंगी जिन्हें कोई विचारशील व्यक्ति भुला नहीं सकता.

नई दिल्ली
जनवरी, १९५२

विश्वनाथ

केले के खंभे

रामकृष्ण

श्री रामकृष्ण का जन्म सन् १६२७ में हुआ था. १६४७ में स्नातक हुए. लखनऊ में कई पत्रपत्रिकाओं के प्रतिनिधि हैं और स्वतंत्र रूप से लेख, कहानियां आदि लिखते हैं, जो विभिन्न पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रहती हैं. आपकी प्रथम रचना 'स्वामी रामतीर्थ' साप्ताहिक 'संसार' में '४३ में प्रकाशित हुई थी. आप 'अन्हृसिर्क अमर' के नाम से भी लिखते हैं.

आज जन्माष्टमी है. रात के दस बजे हैं. झराझर पानी बरस रहा है. वर्षा की कुछ बूंदें रोशनदान से हो कर मेरे बिस्तर पर भी पड़ जाती हैं. पड़ोस में कीर्त्तन हो रहा है. दो घंटे बाद जब झांकी के पट खुलेंगे तो प्रसाद मिलेगा. मुझे न्योता मिल चुका है.

सामने के मकान में मास्टर चौधरी रहते हैं—बड़े ही हंसमुख, बड़े ही मिलनसार. संगीत से प्रेम है. ग़रूर छू तक नहीं गया. फटी धोती पहने घूमा करते हैं.

उनके बग़ल वाले मकान में सेठ द्वारकादास टनटनियां रहते हैं. लाखों का व्यापार होता है. उनके बारे में न पूछिए. मुश्किल से उनके दर्शन हो पाते हैं. मिलते हैं तो ऐसे जैसे बड़े लाट तअल्लुक़दारों व जमींदारों से मिलते हैं. सिर से पैर तक घमंड और अभिमान की मूर्त्ति. उनके दरवाजे पर एक नेपाली हमेशा बंदूक ताने खड़ा रहता है. तिजोरियों में नोटों की अनगिनत गड्डियां भरी पड़ी हैं. उनकी कुंजी हमेशा सेठजी अपने जनेऊ में बांधे रहते हैं. उन्हें किसी पर विश्वास नहीं.

मेरी आंखों के सामने दोनों की मूर्त्तियां स्थिर हो गई. दोनों के बारे में सोचता हूं. कितना फ़रक़ है दोनों में—एक इनसान, तो दूसरा इनसान सा लगने वाला हैवान; एक निर्धन होते हुए भी बेफ़िक्र, दूसरा धन की ढेरियां लगे रहने पर भी फ़िक्रमंद रहता है. एक फटी धोती पहने हुए भी प्रसन्न, तो दूसरा तिजोरियों की ताली अपने पास रखे हुए भी शंकित, भयभीत. एक को इस लोक की भी परवा नहीं, दूसरा धर्मशालाओं और मंदिरों में लाखों लगा कर परलोक सुधारने की चिंता में मग्न. एक निराशा के वातावरण में रहते हुए भी आशा

में सांस लेता है, दूसरा आशा को ख़रीद कर भी निराशा में ग़ोते लगाता है.

नेत्रों के सम्मुख दूसरा चित्र आया. यह चित्र मेहंदीमियां का है. मेहंदीमियां हमारे दर्ज़ी हैं. उमर सत्तर को पार कर गई होगी. सिर और दाढ़ी के बाल जोहा चावल की तरह बर्राक़ हैं. पीछे वाली गली में इनकी दुकान है. दिन भर मशीनों की खटपट खटपट लगी रहती है. एक गाहक आता है, कोट दे जाता है; दूसरा आता है, तो पाजामा. दोनों ही कहते हैं, "देखो, मियां, देर न लगाना. कल तक मिल जाए."

मेहंदीमियां दोनों की बातों का हंसहंस कर जवाब देते. बग़ल में उनका हुक़्क़ा रखा रहता है. मौक़ा मिलने पर उसे भी गुड़गुड़ा लेते हैं. मेहंदीमियां को अचार बहुत पसंद है. जब भी हमारे घर आते हैं, एक कुल्हड़ में आम का अचार ले जाते हैं. कभीकभी मुरब्बा भी मिल जाता है. कहते हैं, मुझे आपके यहां की खाने की चीजें बहुत अच्छी लगती हैं...

पानी की बौछार कुछ बढ़ गई है. मेरी मेज भीग गई है. खिड़की के दरवाजे बंद कर दिए. ऊपर से पानी अब भी आ रहा है. उसका कोई इलाज नहीं. रोशनदान में शीशे नहीं हैं. मुझे मकान-मालिक मिस्टर सेन पर बड़ा गुस्सा आता है. पहली तारीख को पूरे सौ रुपए गिनवा लेते हैं और मरम्मत के नाम पर कौड़ी भी नहीं. पूरे कंजूस हैं.

मैंने कमरे की बत्ती बुझा दी. लेटेलेटे पता नहीं कबकब की स्मृतियां आंखों के सामने आने लगीं. एक के बाद दूसरी, दूसरी के बाद तीसरी. प्याज के छिलकों का अंत नहीं आता. छीलते जाइए, वे तब तक समाप्त नहीं होंगे जब तक स्वयं प्याज का अस्तित्व ख़तम न हो जाए. मेरे दिमाग़ का भी आज यही हाल हो रहा है. कोई भी चित्र स्थिर नहीं. एक जाता है, स्वतः दूसरा आ जाता है.

आंखों के सामने यकायक छःसात बरस पुराना चित्र आ गया. १९४० की जन्माष्टमी. व्यक्तिगत सत्याग्रह. विनोबा भावे द्वारा आंदोलन का सूत्रपात. जवाहरलाल की गिरफ़्तारी. चार साल के कारावास का दंड. फिर सत्याग्रहियों की बाढ़. जेलों का भरना. एमरी और चर्चिल की दुरंगी नीति. क्रिप्स का आगमन.

आंखों के सामने से ये सब घटनाएं शृंखला की कड़ियों की भांति गुज़रती गईं. घर का चित्र आया. सत्याग्रह की आग मेरे यहां तक आई और एक दिन सुबहसुबह बाबूजी को पुलिस पकड़ ले गई. चाचाजी तो पहले से ही जेल में थे. बाबूजी को भी दो साल की सरकारी मेहमानी का निमंत्रण मिला. पांच सौ रुपए जो जुरमाना हुआ सो अलग. मुझे याद पड़ता है, पांच सौ रुपए के लिए पुलिस को हमारी तीनतीन हज़ार की दो मोटरें भी कम मालूम पड़ीं. ड्राइंग रूम का सब सामान भी वह साथ लेती गई.

यह सब हुआ, लेकिन मेरे बूढ़े बाबा के माथे पर एक शिकन तक न आई. जिस समय बाबूजी को लाल पगड़ी वाले हथकड़ी डाल कर ले जा रहे थे, मैं रोया था, दादी रोई थीं. मां ने अपने आंसू अंदर ही पी लिए थे. परंतु बाबा हंसहंस कर उनका सामान ठीक कर रहे थे और साथ ही हम लोगों को ढाढ़स भी बंधाते जाते थे.

अच्छीअच्छी किताबों और पत्रिकाओं का एक ढेर सा लगा दिया—यद्यपि वे सब जेल के द्वार से ही लौट आई थीं. बाबूजी को पुस्तकों का व्यसन था, बूढ़े बाबा यह जानते थे. उन्हें अपने विलायत पढ़े लड़के पर गर्व था. वह जानते थे उनका लाल किसी बुरे काम के लिए नहीं पकड़ा गया है. मुझे बाबा की स्थिर बुद्धि पर हर्ष होता है. दोनों लड़के दो साल तक जेल में रहे, मगर उन्होंने कभी भी अपने अंदर के दुख को प्रकट नहीं होने दिया. आंतरिक दुख तो स्वाभाविक है. उसे तो कोई भी नहीं रोक सकता.

स्मृतियों की दूसरी कड़ी सामने आई. दीपावली का आगमन.

जगजननी लक्ष्मी का दिन. दीपों का उज्ज्वल प्रकाश. घोर अंधकार-पूर्ण रात्रि में मां लक्ष्मी के पावन आलोक से कोनाकोना जगमगा उठता है. भारत का महापर्व है यह. गुलाम होते हुए भी हम अपने त्योहारों को अब तक नहीं भूल पाए हैं. युगों से पददलित होते हुए भी हम अपनी प्राचीन स्वतंत्र संस्कृति को नहीं भुला पाए हैं.

गंगा के जल में कीड़े नहीं पड़ते. विश्व में कोई भी पानी ऐसा नहीं जिस में कीड़े न पड़ें. हमारी संस्कृति भी गंगाजल के समान है. दुनिया की सभ्यता और संस्कृति धूल में मिल गई. लोगों ने अपने आदि महापुरुषों को, राष्ट्र निर्माताओं को, हर्षोत्सवों को भस्मीभूत कर दिया, पर हमने उन्हें उसी तरह याद रखा जिस तरह कोई भी स्वतंत्र राष्ट्र रख सकता है. दशहरा भारत का विजय दिवस है. उस दिन हमारे देश ने शत्रुओं पर विजय पाई थी. हमारी वह विजय राजनीतिक विजय नहीं, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक विजय थी. हजारों वर्ष व्यतीत हो गए उस बात को, पर हम आज भी उसे उतने ही उल्लास और उत्साह के साथ मनाते हैं जितने कि राम के जनराज्य में मनाया जाता होगा. यह हमारी विशेषता है. विशेषता अपवाद होती है. हमारा देश विश्व में अपवाद है.

यही दीवाली थी उस दिन. दोनों भाई जेल में ही थे. आंदोलन जोर पकड़ रहा था. हम लोगों ने उत्सव न मनाना निश्चित कर लिया था. यह दादी की सलाह थी. दोनों लाल जेल की सूखी रोटियां तोड़ें और हम यहां गुलछर्रे उड़ाएं? यह असंभव है. नहीं, दीवाली नहीं मनाई जाएगी. सबके यहां दीए आए, खिलौने आए, चूड़ा व खीलें आईं; हमारे यहां कुछ नहीं. वह रात हमारे यहां ऐसे ही मनाई जाने वाली थी. अंधकार रहेगा. दीए नहीं जलाए जाएंगे. पूजा नहीं होगी. चीनी के हाथी घोड़े खाने को नहीं मिलेंगे. हम लड़के यही सब सोचते थे.

रीता और अजीत हमारे दल के सब से छोटे सदस्य थे. अगल-बग़ल के घरों की तैयारियां वे देखते थे. दीयों में तेल भरा जा रहा है, रूई की बत्तियां बनाई जा रही हैं, ढेर-के-ढेर चूड़े व खीलें आ रही हैं. बाज़ार में देखते थे—रंगबिरंगे बल्बों के प्रकाश में बीसियों दुकानें तरहतरह के खिलौनों से भरी हैं. लोग आते हैं, हंसतेखेलते, मोलभाव कर के सामान खरीद ले जाते हैं. जगहजगह दीए जलाने का प्रबंध हो रहा है. अपने घर में कुछ नहीं. पारसाल भी तो हुआ था. इस बार यह सब क्यों नहीं?

स्मृति मिरज़ा अज़ाहिरहुसेन पर आ कर ठहर गई. मिरज़ा हमारे घर में बहुत दिनों से आते हैं. जब से पैदा हुआ हूं, तभी से उन्हें देख रहा हूं. उमर नब्बे वर्ष की है. कमर झुक गई है, बाल सन हो गए हैं, लेकिन वह उन आदमियों में हैं जो मरते दम तक जवान रहते हैं. उल्लासी व्यक्ति हैं. ग़दर के दिनों की उन्हें अच्छी तरह याद है. तब वह आठनौ वर्ष के रहे होंगे.

हम लोगों से उनकी पूरी बेतकल्लुफ़ी है. ईद बकरईद के दिनों में हम लोगों को अपने घर ले जाते हैं, कपड़े देते हैं, खिलौने देते हैं और मीठीमीठी सेवइँ खिलाते हैं. हम भी उनके घर बहुत शौक़ से जाते हैं. उनके पोते ईदू और अब्दुल्ला हमारे दोस्त हैं. घंटों हम लोग खेलते हैं. हिंदू मुसलमान का विचार तक नहीं आता. मिरज़ा हमें ग़दर के क़िस्से सुनाते हैं. हम लोग भी बड़े चाव से सुनते हैं. बड़ा मज़ा आता है.

अंग्रेज़ों से मिरज़ा को सख़्त नफ़रत है. उनका बस चले तो उन्हें नेस्तनाबूद कर दें. कहते हैं, "रंजीत भैया, एक भी फिरंगी को जब कभी देखता हूं तो बुढ़ौती में भी मेरा ख़ून खौलने लगता है. ग़दर के ज़माने में क्या नहीं किया इन लोगों ने? हिंदुस्तानियों को क़तार में खड़ा करवा देते थे और तोपदम कर देते थे. इन्हीं आंखों से हज़ारों भाइयों को पेड़ों से फांसी पर लटकते देखा है. क्या वे ख़ूनी दिन फिर कभी आएंगे ? मेरे बूढ़े दिल में अभी बहुत से अरमान बाक़ी हैं. उन्हें

मिटाना चाहता हूं."

फिर वही दीवाली के दिन वाली बातें सामने आने लगीं. घर के सभी लोग गुमसुम हैं. दोनों भाइयों की याद लोगों को सता रही है. दादी कहतीं, "भैया, हम लोग आज उपवास करेंगे. लड़कों के लोहे के तसलों में खाते समय हम दीवाली का उत्सव किस दिल से मनाएं?" बात ठीक थी. किस मां को अपने लड़कों के लिए प्यार न होगा? दादी भी मानवता की इस दुर्बलता से बची न थीं. अपने दोनों लड़कों के प्रति उनके हृदय में असीम स्नेह था.

गोधूली का समय था. सूरज डूब रहा था. पासपड़ोस में दीए सजासजा कर रखे जा रहे थे. हम लोग हाथ-पर-हाथ रख कर बैठे थे. सुनाई दिया कि नीचे के किवाड़ कोई खटखटा रहा है.

"रंजीत! रंजीत! रीता! अजीत! कहां गए तुम सब? आज यह अंधेरा कैसा?" आवाज पहचानी हुई थी. मिरज़ा अज़ाहिरहुसेन थे. खिड़की से झांक कर देखा. सिर पर झाबा रखे एक लड़का भी उनके पीछे खड़ा था. झाबे में खिलौने, मिठाइयां, खील आदि थीं. दरवाजा खोला.

वही प्यार भरी आवाज़, "यह अंधेरा क्यों? अरे, यहां तो कोई इंतज़ाम ही नहीं. मुंशीजी कहां हैं?"

बाबा आए. दीवाली न मनाने का कारण बताया. मिरज़ा की सारी उदासी काफ़ूर हो गई. हंसी का फुहारा छूटा. "अरे वाह, मुंशीजी, भैया जेल में हैं तो तुम दीवाली भी न मनाओगे? यह कैसी बात? सोचो तो, भैया किस काम के लिए जेल-गए हैं? तुम्हें तो खुश होना चाहिए, तुम्हारे दोनों लड़के मुल्क की खिदमत कर रहे हैं. दुश्मनों के पंजे से मादरेवतन आज़ाद करने गए हैं. तुम्हें तो दूनी खुशी से त्योहार मनाना चाहिए. और सोचो तो, तुम्हारी उदास रूह पा कर भैया लड़ाई कैसे जीतेंगे? दीवाली खूब अच्छी तरह मनाओ. तुम

लोगों की खुश रूह उन तक पहुंचेगी तो वे भी खुश होंगे."

और इसके बाद वह झाबे से तरहतरह की चीजें निकालने लगे. बढ़ियाबढ़िया खिलौने—चीनी के, मिट्टी के, खीलें, चूड़े, गट्टे. फिर बोले, "क्यों, मुंशीजी, तेल और दीए भी अभी नहीं आए होंगे? मैं जा कर बाजार से लिए आता हूं." बाबा ने मना कर दिया. नौकरों को बाजार भेज कर मंगवा लिए.

मिरज़ा की बातें याद कर के मुझे एक प्रकार की प्रसन्नता होने लगी. ओह, कितना महान् पुरुष था वह! हम लोग तो उनके पैरों की धूल के बराबर भी नहीं. मिरज़ा की भावनाओं का मैं क़ायल था.

और फिर उस बार तो जो दीवाली मनाई गई, वह मेरे घर की एक चिरस्मरणीय चीज है. मिरज़ा ने हमारी आंखें खोल दी थीं. उत्सव के महत्त्व को हमने पहचाना. मनाने वाले के ही लिए उत्सव हर्ष की चीज़ नहीं है. दूर बैठे हुए बंधुबांधवों को भी उस से प्रसन्न होने की प्रेरणा मिलती है.

स्मृति मेल की गति से दौड़ती है, तो एकदम दो वर्ष आगे जा कर रुक जाती है. सन् '४२ की जन्माष्टमी. अगस्त आंदोलन का सूत्रपात. 'भारत छोड़ो!' का नाद. नेताओं की गिरफ़्तारी. भयंकर उथलपुथल. स्वतंत्रता की विद्युत् सी चमक. फिर अंधकार. दमन का नग्न तांडव. लोमहर्षक अत्याचार. नृशंसता का बोलबाला. अमानुषिक यंत्रणाएं. सन् '४२ के ख़ूनी दिनों की याद अब तक मेरे दिमाग़ में ताज़ी बनी है. सन् १८५७ के बाद प्रथम जन आंदोलन था वह. पानी की तरह ख़ून बहा.

जनता में एक नया जोश था, नया उल्लास था, नई उमंग थी. कितने अत्याचार हुए हम पर. हमको कुचलने की कितनी जबरदस्त कोशिशें की गईं. हमारी भावनाओं पर कितने भीषण प्रहार हुए—सोचने लगता हूं, तो आंखों में ख़ून उतर आता है; और किसका हृदय है ऐसा जो इन प्रहारों को चुपचाप सहन कर सके?

हम उस युद्ध की ज्वाला से और अधिक प्रकाशवान हो कर निकले. भारत के उज्ज्वल भविष्य में विश्वास जगने लगा. अपने पर गर्व हुआ. स्वतंत्र और सर्वसंपन्न राष्ट्र का चित्र आंखों के सम्मुख नाच उठा. सोना खान से निकलता है तो मैला होता है. अग्नि उसे शुद्ध रूप देती है. कसौटी पर यदि वह खरा उतरे तो समझिए वह असली है. सन् '४२ हमारी कसौटी थी. उस में हम खरे उतरे. हमारा एक कण भी तो खोटा नहीं निकला.

अवसरवादियों की बात जाने दीजिए, दुधमुंहे बच्चों तक ने स्वतंत्रता के हवनकुंड में कूद कर बलि होने में कृपणता नहीं की. क्या यह हमारी प्रगति के चिह्न नहीं हैं? अगस्त की घटनाएं हमारी चिरसंचित अभिलाषाओं की एक स्वच्छ दर्पण थीं. उन दिनों हमने जो भी किया वह हमारी मूक भावनाओं के तेज उबाल के अतिरिक्त कुछ न था. उस उबाल में कुछ बहे, कुछ रहे, पर अनुभव सभी को हुआ.

स्मृति उसी स्थान पर रुक गई. आंखों के सामने दो लड़कों का चित्र आया. दोनों की उमर आठदस के बीच में है. सड़क के नुक्कड़ वाले रंगीलाल तमोली के लड़के हैं. एक का नाम लक्ष्मण है, दूसरे का त्रिलोकी. बड़ा शायद प्राइमरी स्कूल में पढ़ता है. छोटा यों ही घूमा करता है. महल्ले के लड़के उन दोनों को घृणा की दृष्टि से देखते हैं. तमोली के लड़के जो हैं—मैलेकुचैले. बोलने की, बातचीत करने की भी तमीज नहीं. भला ये लड़के भी भले लड़कों के साथी होने लायक़ हैं? हमारा सभ्य कहलाने वाला समाज इसके लिए तैयार नहीं है. उसे गर्व है अपने बड़प्पन पर, नाज है अपनी जाति पर, अभिमान है अपने रुपएपैसों पर. ये लौंडे, जो उनके जूठे टुकड़ों पर पलते हैं, इतनी भी धृष्टता नहीं कर सकते कि उनके सामने गरदन उठा कर चल सकें.

एक दिन लक्ष्मण लौटा तो रात काफ़ी बीत चुकी थी. घर में बआ ने पूछा, "क्यों रे, इतनी रात गए कहां था?"

लक्ष्मण उस दिन जलूस में गया था. बोला, "बूआ, गांधी महात्मा का जलूस निकला था न, उसी में गया था."

त्रिलोकी ने कहा, "दादा, हमको क्यों नहीं ले गए?"

लक्ष्मण ने समझाते हुए जवाब दिया, "आज तो बड़ी भीड़ थी. कल इतवार है, फिर जलूस निकलेगा, तब तू भी चलना." फिर कुछ देर रुक कर धीरे से कहा, "कहीं से दो झंडे मिल जाते तो बड़ा मजा आता."

दूसरे दिन सुबह उठ कर दोनों ने दो झंडे तैयार किए. झंडे क्या थे, खपच्ची में कपड़े के टुकड़े लपेटे थे. घर में मां की फटी-पुरानी धोतियां पड़ी थीं, उन्हें ही फाड़फूड़ कर झंडा बनाया था. फिर जब जलूस चला तो उस में शामिल हो गए. आगेआगे चलते थे और पूरी ताक़त से नारे लगा कर चिल्लाते थे. महल्ले के और लड़कों ने भी देखा कि पट्ठे बड़ी शान के साथ झंडे लिए आगेआगे जा रहे हैं, तो उनके मुंह में भी पानी भर आया. एक ने डरतेडरते पिता से उनकी ओर संकेत किया, तो पिता ने लड़के के गाल पर एक थप्पड़ लगाते हुए कहा, "बदमाश, उन आवारों को इसके सिवाए कोई और काम भी है? शरीफ़ लड़के यह सब थोड़े ही करते हैं. जा, अंदर बैठ."

कोतवाली के घंटाघर पर झंडा फहराने का प्रोग्राम था. जब जलूस कोतवाली पहुंचा तो देखा वहां पहले से ही पुलिस का जमघट है. और फिर घंटाघर—अरे बाबा, इतना ऊंचा! वहां झंडा कैसे लगाया जाएगा? सिपाहियों ने सीढ़ी पहले ही से अलग कर दी थी. घंटाघर पर झंडा लगाना सचमुच एक समस्या बन गई थी. और फिर झंडा लगाने वाले के ऊपर आग बरसाने के लिए गोलीबंदूक़ों से लैस सैकड़ों सिपाही खड़े थे. "ना, ना, यहां से भागो!" बड़ेबूढ़ों ने लड़कों को सलाह दी.

जलूस का लीडर था स्थानीय विश्वविद्यालय का एक छात्र—

अमर. उसने कहा, "नहीं, अब बिना झंडा लगाए हम लोग नहीं जा सकते--चाहे हम में से सभी को क़ुरबान हो जाना पड़े."

तय हो गया, झंडा लगेगा. लेकिन लगे कैसे? आख़िर वहां तक जाने के लिए भी तो कोई आधार चाहिए. कोतवाली के बरामदे में खड़े शहर कोतवाल ख़ानबहादुर सैयद फ़ैयाज़हुसेन सिगार का धुआं उड़ा रहे थे. मन-ही-मन हंस भी रहे थे--ज़रा इन लौंडों के भी खेल देखें. सिपाहियों को उन्होंने हुक्म दे दिया, "झंडा लगाने दो, बिलकुल न बोलो. लेकिन, हां, सीढ़ीवीढ़ी न देना."

त्रिलोकी दौड़ कर अमर के पास पहुंचा. "बाबूजी, मैं ऊपर चढ़ जाऊंगा. मुझे झंडा लगाने दीजिए."

अमर मान गया. "लेकिन देख, गिरनाविरना नहीं," अमर ने कहा.

त्रिलोकी ने आगे बढ़ कर कहा, "अरे, नहीं, बाबूजी, इस से मुश्किलमुश्किल जगहों पर चढ़ गया हूं--यह क्या है! आप बिलकुल निसाख़ातिर रहें."

त्रिलोकी चढ़ा. आधा टॉवर तो पार कर गया. "वाह! शाबाश! हां, हां, बढ़ते जाओ! पट्ठे, मार दिया! ख़ूब!" कोतवाल साहब दूर से देख रहे थे--वाह, यह तो ख़ूब निकला! अगर इसके ऊपर इस वक़्त गोली चला दूं तो बड़ा मज़ा आए. नीचे गिरे आ कर पट्ट से. लोग भी जान जाएं कि ख़ानबहादुर सैयद फ़ैयाज़हुसेन किस चिड़िया का नाम है. और फिर जब उन्होंने चुपके से पिस्तौल का निशाना साधा, तो त्रिलोकी ऊपर पहुंच कर झंडा लगा चुका था. गोली लगते ही वह पट्ट से नीचे आ गिरा.

"वाह, वाह, क्या ख़ूब मारा!" ख़ानबहादुर साहब के पास ही बैठे दारोग़ा बद्रीप्रसाद कह रहे थे. "अरे, हुज़ूर जो निशाना लगाएं वह कभी चूक सकता है! यह नामुमकिन है. अब तो लड़के की सात पीढ़ियां भी यहां आने की मजाल नहीं करेंगी... क्या ख़ूब! वह देखिए,

मछली की तरह तड़फड़ा रहा है."

और फिर क्या हुआ--यह शांतिपूर्वक बताना मेरे जैसे साधारण मनुष्य का काम नहीं है. मैं तो उस समय घटनास्थल पर ही था. आज भी वह दृश्य मैं नहीं भुला पाया हूं. एक तरह से यह अच्छा भी है. मुझे जन्म भर अपने ही भाईबंधुओं के अत्याचार याद रहेंगे. पर ये चित्र जब मेरे सामने आते हैं तो स्थिर नहीं रह पाता. यह मेरी कमजोरी हो सकती है, पर मनुष्य में तो कमजोरी भी एक गुण है. मैं नहीं विश्वास कर सकता--विश्वास करना असंभव है. आपका बच्चा आग में जलाया जा रहा हो, आंखों के सामने ही चोर आपका चिर संचित धन उठाए लिए जा रहे हों, आपका प्रिय साथी आपके सामने ही नदी में डूब कर आत्महत्या कर रहा हो, अत्याचारी आपकी निगाहों के सामने ही आपकी प्रिय पत्नी का मानहरण कर रहे हों और आप शांत रह सकें! आप मनुष्य हैं, आपका विकास मनुष्य के विकास से ऊंचा नहीं है. महात्माओं की बात मैं नहीं करता, उनके लिए तो कुछ भी असंभव नहीं है. पर मैं तो मनुष्य ही हूं, और यदि रोदन-गायन, अच्छेबुरे का प्रभाव मेरे ऊपर नहीं पड़ता तो मैं उसे अपनी कमजोरी ही समझूंगा.

सिनेमा की रील आती है--क्रांति की लहर--जलूस--कोतवाली--झंडा--त्रिलोकी--कप्तान फ़ैयाजहुसैन--पिस्तौल की लपलपाती जिह्वा--और मैं अपने सामने देख रहा हूं नौ वर्ष के लड़के का शव--जो अभी हंसताबोलता था, बातें करता था, जिसका गला चिल्लाते-चिल्लाते पड़ गया था--खपच्चियों में झंडा--टॉवर पर चढ़ा--झंडोत्तोलन--गोली लगी--एक आह करते हुए जमीन पर. गोली भेजे के बिलकुल बीचोंबीच से निकली थी. कुछ छोटेछोटे सीसे के टुकड़ों ने क्षण भर में उसके मानव के सत्य को निकाल कर दूर फेंक दिया था--बहुत दूर, जहां से पुनः लौटने की आशा व्यर्थ है.

साधारण शब्दों में त्रिलोकी मर गया था, पर इतिहास के शब्दों में

वह शहीद हो गया था.

और फिर जब उसकी अरथी निकली, तब तो देवताओं ने भी दांतों तले उंगली दबा ली. पूरे पचास हज़ार आदमी थे. सबकी आंखों में आंसू थे, हाथों में गजरे थे और हृदय में थी बलिदान की उत्कट भावना. वे अपने बगीचे के उस छोटे से पुष्प को अंतिम श्रद्धांजलि अर्पित करने जा रहे थे, जो फूलने के पहले ही मसल डाला गया था.

पानी की एक बड़ी सी बूंद मेरे गालों पर पड़ी, मैं चौंक पड़ा. पड़ोस का भानू मेरा सिर हिला कर कह रहा था, "चलिएगा नहीं? आरती हो रही है, भगवान पैदा हो गए."

++

अजय शिखर

प्रकाश सक्सेना

श्री प्रकाश सक्सेना का जन्म सन् १६२३ में आगरे में हुआ था. बीस वर्ष की आयु में रसायन शास्त्र में एम. एससी. पास किया और फिर हिंदी साहित्य सम्मेलन की विशारद परीक्षा भी. इसके बाद ढाई वर्ष प्रोफ़ेसर रहे; अब उत्तर प्रदेश में सिटी मैजिस्ट्रेट हैं. जब आप स्कूल में थे, तब से ही लिखने की ओर प्रवृत्ति रही, और आपकी रचनाएं विभिन्न पत्रपत्रिकाओं में प्रकाशित होती रही हैं.

क्या आपने कभी अपने बंद कमरे में रबड़ की गेंद को किसी दीवार पर ज़ोर से मार कर देखा है कि क्या होता है? गेंद कुछ देर तक कमरे की दीवारों से टक्कर लेले कर अंत में शिथिल हो कर एक कोने में स्थिर हो जाती है. मेरे मस्तिष्क की भी कुछकुछ यही दशा है. गेंद की भांति ही मेरे विचार मस्तिष्क में टक्करें मारने के उपरांत जड़ हो जाते हैं और मैं अपने को निपट निश्चेष्ट और संज्ञाहीन अनुभव करने लगती हूं. मेरे दिमाग़ में उठते तूफ़ान को कोई दिशा नहीं मिलती, कोई राह नहीं सूझती और बरसात की उमसपूर्ण संध्या के समान उस में ग़ुबार भरा रहता है. मुझे भय है किसी दिन विस्फोट न हो जाए.

आप कहेंगे कि यह मानसिक बीमारी है. मानसिक ही सही, लेकिन है बीमारी——यह आप मानते हैं. और बीमारी का स्वास्थ्य पर प्रभाव पड़ता ही है. मेरे पहले और आज के स्वास्थ्य में कितना महान् अंतर हो गया है! कालिज के दिनों में मेरे गाल पके टमाटर की तरह लाल थे, जिनको छूते ही ख़ून बरसने लगता था. और वह नटखट कीर्ति! उसके हौसले सब से अधिक बढ़े हुए थे. दिन में कम-से-कम एक बार तो वह मेरे गालों की चुटकी लेने से बाज़ नहीं आती थी. और मेरे अप्रसन्न होने पर सब लड़कियों को मेरे गाल दिखाती हुई कहती थी, "क्यों, जी, इसके गालों पर जो लाल धनुष बन गया है, क्या वह तुम्हें अच्छा नहीं लगता? मैं तो इसे देखने के लिए इसकी नाराज़गी को भी चिंता नहीं करती."

अब वे दिन कहां! न जाने वह शैतान भी अब कहां होगी! जीवन नदी न जाने कितने कगारों को छूती हुई बहती है, लेकिन वह लाली कहां गई? अब स्नान के उपरांत तौलिए से काफ़ी देर तक गाल

रगड़ने पर भी केवल तनिक सी लाल झांई दे जाते हैं. लगता है कि वह लाली तो सदा के लिए बिदा हो गई.

कभी सोचती हूं मुझे कोई दुख है. लेकिन कहां? खानेपहनने, नौकरचाकर---सभी का तो आराम है. किसी भी इच्छा पर कोई बंधन नहीं. मेरे पति की कोई प्रेयसी भी नहीं, जो मेरे क्लेश का कारण बने. फिर कैसे कहूं कि मुझे दुख है? लेकिन गाल अब वैसे लाल नहीं रहे. बुढ़ापा भी अभी नहीं आया है, जो उसके सिर दोष मढ़ दूं. फिर भी शादी से यह परिवर्तन तो नहीं होना चाहिए था.

मेरी शादी---ओह, मुझे अच्छी तरह याद है, शायद प्रीवियस में थी जब मेरी शादी पक्की हुई थी. बी. ए. पास कर लेने के बाद पिताजी को अपना भार शीघ्र-से-शीघ्र उतारने की चिंता हुई थी. शादी तय हो जाने पर मुझे बुरा नहीं लगा था. और मैं दावे के साथ कह सकती हूं कि किसी भी लड़की को अपनी शादी निश्चित हो जाने से बुरा नहीं लगता. अपने भावी पति के विषय में मैंने सुना था कि वह डाक्टर हैं---चीरफाड़ के डाक्टर नहीं, विज्ञान के डाक्टर, वनस्पति विज्ञान के; और किसी कालिज में प्रोफ़ेसर हैं. लोग कहते थे कि होनहार व्यक्ति हैं.

इन समस्त बातों से कुछ अव्यक्त आनंद मालूम होता था. मुझे ऐसा लगता था कि मुझे कोई छेड़े और मैं चिढ़ूं. और जब मेरी छोटी बहन शील मुझ से शादी की बात कह कर तंग करती थी, तो यद्यपि मैं उस से चिढ़ने लगती थी और धमकाती हुई कहती भी थी कि नहीं मानेगी तो मां से शिकायत कर दूंगी, लेकिन सच कहती हूं कि यह सब केवल दिखाने के लिए होता था. वास्तव में मुझे उसके छेड़ने से आंतरिक आनंद होता था. वह किस प्रकार का आनंद होता था, मैं ठीक से वर्णन नहीं कर सकती. बैठेबिठाए मुझे लगता था कि जैसे कोई मुझे देख रहा हो और मैं कुछ सिमट जाती थी या उसका अभिनय करती थी. फिर किसी को मुझे देखते न पा कर मैं दौड़ कर शील को पकड़ लाती और

उसे झकझोरती हुई कहती, "शील, मुझे देख."

वह खूब जोर से हंसती हुई कहती, "क्या देखूं तुम्हें? क्या कुछ बदल गई हो? कुछ विशेष पहने भी तो नहीं हो. फिर क्या दिखा रही हो मुझे?" और शील कूदती हुई बाहर भाग जाती. ड्रेसिंग टेबिल के लंबे आईने के सामने शृंगार करती हुई मैं मुसकरा देती और शीशे में देख कर मुझे लगता कि मैं नहीं, कोई और मुसकरा रहा है.

इस तरह की कुछ और बातें मां के द्वारा पिताजी के कान तक भी पहुंच गई थीं, लेकिन वह हंस कर मां को टाल देते, "शादी होने पर सब ठीक हो जाएगा. तुम बेकार परेशान होती हो."

सारा घर उनकी प्रशंसा के पुल बांधा करता था. पिताजी मां से कहते, "इतना भोला और सीधा लड़का मैंने नहीं देखा. उस दिन मैं उसके कालिज गया था. उसके विभाग के जो हेड हैं, वह सुना रहे थे कि एक दिन घंटा बज गया, क्लास आई और चली भी गई, लेकिन आप अपने कमरे में बैठे पढ़ते ही रहे. जब नौकर ने आ कर कहा कि डाक्टर साहब, आपकी क्लास आई थी और चली भी गई, तो बोले कि तुमने मुझे बताया क्यों नहीं? उस दिन से एक नौकर उन्हें उनकी क्लास में पहुंचा आता है. न जाने किस धुन में रहता है कि हफ़्तों बीत जाते हैं, लेकिन कमीज़ बदलने का नाम नहीं लेता. ऐसे आदमी की शादी तो और भी जरूरी है."

मैं यह सब छिप कर सुनती और आनंदविह्वल हो जाती. शील कभी सुनाती, "दीदी, कल जब जीजाजी आए थे न, तो नाश्ते के वक़्त मैंने बड़ा रसगुल्ला उठा कर कहा कि पूरा-का-पूरा मुंह में दूंगी. उन्होंने मुंह फाड़ दिया और बड़ी मुश्किल से मैंने उस पूरे रसगुल्ले को ठूंस पाया. लेकिन वह सब खा गए. पिताजी और मैं खूब हंसे. बड़ा मज़ा आया. सच बड़े अच्छे हैं हमारे जीजाजी." मैं शील के हलकी सी चपत लगा कर भगा देती और न जाने किन विचारों में डूब जाती. मुझे उनकी बेवक़ूफ़ियों पर ग़ुस्सा नहीं, बड़ा आनंद आता था. न जाने क्यों?

लेकिन ये शादी होने से पहले की बातें हैं.

खैर, फिर शादी हुई. मुझे एकएक बात इस तरह याद है जैसे कल ही मेरी शादी हुई हो. और फिर शादी हुए अभी दिन ही कितने हुए हैं--कुल डोढाई वर्ष. इतने काल में यह संभव नहीं कि समय को गर्द पड़ने से चमकती हुई स्मृतियां धुंधली पड़ जाएं. इसके अतिरिक्त और कोई रोग चाहे मुझे भले ही हो, स्मृति विभ्रम का रोग मुझे नहीं है. शादी में तो केवल कुछ ही दिन के लिए उनके पास रही थी, लेकिन उसके बाद से तो लगभग डेढ़ वर्ष से हम लोग बराबर साथ ही हैं.

लेकिन इतने थोड़े समय में ही मेरे चेहरे का रंग उड़ जाने पर सभी आश्चर्य करते हैं और मैं स्वयं भी आश्चर्य करती हूं. लेकिन कोई कारण नहीं बता पाती. हर कोई कहता है कि शादी हो जाने के बाद से मुझ में जमीन आसमान का अंतर हो गया है. चंचलता जाने कहां खो गई और मेरे बढ़ते हुए गांभीर्य से पिताजी भी चिंतित हैं. शील तो बातबात पर कह देती है, "दीदी की शादी क्या हो गई, वह तो बिलकुल बुढ़िया हो गई है." मैं स्वयं अनुभव करती हूं कि मुझे अब किसी भी कार्य में उत्साह प्रतीत नहीं होता--जैसे सब कुछ यंत्रवत् हो, उस में जीवन का अवशेष न रहा हो.

जैसा कि मैं पहले ही कह चुकी हूं मुझे कोई दुख नहीं है- उनको तीन सौ रुपए मिलते हैं, जो हम दो लोगों के लिए अधिक नहीं, तो काफ़ी तो हैं ही. फिर और कोई झंझट भी नहीं है. सास नहीं, ननद नहीं--केवल मात्र दो प्राणी. नौकर भी है. कुछ काम भी मुझे नहीं करना पड़ता. कुछ ऐसी जिम्मेदारियां भी मेरे ऊपर नहीं आ पड़ी हैं, जिन से असमय में ही मुझ में पुरखापन आ जाए. बहुत टटोलती हूं, लेकिन गांठ पकड़ में नहीं आती. ऐसी छोटीमोटी बातें तो पचासों हुआ करती हैं, परंतु उन से क्या? फिर भी लोग कहते हैं कि लड़की घुली जा रही है. लड़के में भी कुछ ऐब नहीं दिखाई देता. निहायत सज्जन है- और मैं इन दोनों में से किसी बात का भी प्रतिवाद नहीं कर सकती.

विवाह से पूर्व मैंने कुछ स्वप्न रचे थ अपन भावी विवाहित जीवन के संबंध में. मैं समझती हूं कि मैंने इस में कोई गलती नहीं की. संभवतः प्रत्येक विचारशील लड़की ऐसा ही करती है. स्वप्नों की पूर्ति पर आह्लाद और उनके अवसान पर अवसाद सभी को होता है. मैं जब मुड़ कर पीछे की ओर देखती हूं तो दो वर्ष पुराने विवाहित जीवन की अनेक कड़वीमीठी स्मृतियां हरी हो जाती हैं और मैं विवश उन में अपनी घनीभूत उदासीनता का कारण खोजने लगती हूं.

कालिज में इनको बहुत अधिक काम नहीं करना पड़ता. नित्य दो या तीन घंटे ही पढ़ाना पड़ता है. परंतु आप कालिज से लौटते हैं दिन छिपने पर. पहले तो मैं समझती थी कि आखिर एकाकी व्यक्ति करे भी क्या? इसलिए वहीं पर उलझे रहते हैं. लेकिन मेरे आ जाने के बाद भी उनका यही क्रम चलता रहा. मैंने सोचा शायद पुरानी आदत है. कुछ समय लगेगा उसे छोड़ने में. लेकिन जब मैंने कोई परिवर्तन न देखा तो एक दिन कहा ही, "मुझ से शाम को अकेले चाय नहीं पी जाती."

"अच्छा, तो मैं चार बजे आ जाया करूंगा," अत्यंत मधुर वाणी थी. मैं निहाल हो गई. तीनचार दिन तो खैर आए, परंतु फिर वही ढर्रा. मैं अब बारबार क्या कहूं? किसीकिसी दिन तड़के ही कालिज चले जाते हैं. दोपहर को भागे हुए किसी दिन खाना खाने आ गए तो बड़े भाग्य, अन्यथा जब मैं देख लूं कि एक बज गया है और अभी तक नहीं आए हैं, तो नौकर के हाथ खाना कालिज ही भेज देती हूं. और उसके बाद कितने दिन मैंने दोपहर को भोजन नहीं किया--मुझे तो याद नहीं.

कितने ही दिन जब नित्य सुबह कालिज जाने का क्रम जारी रहा, तो कुछ दिन बाद मुझे बड़े साहस के साथ सामने आना ही पड़ा. एक दिन मैंने अपनी दोनों बांहों में उनकी कमर भर कर कहा, "रोज इतनी जल्दी चले जाते हो, आज नहीं जाने दूंगी."

बंधनमुक्त हो मेरे दोनों हाथों को अपने हाथों में थाम कर वह घबराए हुए से बोले, "आज तो जाने दो, बीनू, नहीं तो एक महीने का सारा काम चौपट हो जाएगा." और बस चले ही तो गए. मेरी फैली बांहें भी उन्हें न रोक सकीं. उस दिन मैं कितनी देर तक रोती रही—किसे पता? जाने कौन सा काम था जिसकी उन्हें चिंता थी?

शादी के बाद मैं तीन या चार महीने ही अपने पिताजी के पास रही थी. नई शादी थी. मुझे याद है मैं प्रायः नित्य ही इनको पत्र लिखती थी, लेकिन इनके पत्र शायद आठदस से अधिक नहीं थ. और पत्र भी ऐसे, जिनको देखने पर पता ही नहीं होता था कि लिफ़ाफ़े के अंदर कोई काग़ज भी है. मेरी सहेलियां ताना देती हुई पूछती थीं, "आजकल तो रोज डाक आती होगी. उसी के ध्यान में तो डूबी रहती हो." मैं एक हलकी सी मुसकराहट से इसका उत्तर देती. और कहती भी तो क्या?

गरमी, सर्दी, बरसात—कोई भी ऋतु क्यों न हो, आप मशीन की तरह ठीक पांच बजे उठ जाएंगे और छः बजे तक सब आवश्यक कामों से निबट कर अपने स्टडी रूम में जा धमकेंगे. पांच बजे के बाद से फिर मुझे भला कहीं नींद आती है! अलसाई हुई चाहे पड़ी भले ही सात बजे तक रहूं. यदि मैं किसी दिन कहूं भी कि इतनी जल्दी क्यों उठ जाते हो, ऐसी क्या आफ़त है, तो संयत स्वर में तुरंत उत्तर मिलता, "बेकार ऊंघते हुए पड़े रहने से क्या लाभ? जब नींद पूरी हो चुकी तो उठ जाना चाहिए." बात बिलकुल सच है, लेकिन कितनी निर्मम!

इतने दिनों साथ रहने पर भी मैं यह न जान सकी कि इस व्यक्ति को खाने में क्या चीज पसंद है और क्या नहीं. मुझे ख़ूब याद है कि मैंने एक बार भी उनके मुंह से यह नहीं सुना कि अमुक वस्तु अच्छी बनी है, और अमुक ख़राब. मैं दहीवड़े बहुत अच्छे बनाती हूं, क्योंकि जिस किसी ने उन्हें खाया, वह उंगली चाट कर रह गया और तारीफ़ करतेकरते न अघाया. एक दिन मैंने अपनी संपूर्ण कला को

जाग्रत कर दहीबड़े बनाए. दहीबड़े ही क्या, सारी ही चीजें बनाई थीं. नौकर को अलग बैठा दिया था. शाम को जब खाना खाने बैठे, तो मैं बराबर उनके मुंह की ओर देखती रही कि मुखारविंद से कोई हिमकण झड़े. लेकिन व्यर्थ. अत्यंत ध्यान से देखने पर भी मैं उनके मुख पर ऐसा कोई भाव न पा सकी, जिस से मुझे संतोष होता. केवल एक बार 'बहुत अच्छे बने हैं' सुनने के लिए मैं तरसतरस कर रह गई. मैंने आज तक कभी यह नहीं देखा कि उन्होंने आग्रह क्या, साधारण रूप से भी कहा हो कि आज यह बनवा लो. कितने नीरस और निर्लिप्त भाव से उनका भोजन होता है!

मधु इनके कालिज में ही पढ़ती है. उसकी क्लास को यह भी पढ़ाते हैं. मुझ से भी जानपहचान है, क्योंकि हमारे घर से चौथे घर में ही तो वह रहती है. एक दिन दोपहर को यों ही चली आई. बात चली तो कहीं और से थी लेकिन जाने कैसे इन्हीं पर आ गई. वह मुग्ध हो कर कहने लगी, "बहुत से प्रोफ़ेसरों से पढ़ी हूं, लेकिन डाक्टर साहब की टक्कर का कोई नहीं देखा. पढ़ाते हैं तो ऐसा लगता है जैसे कोई जादू के पट-पर-पट खोलता चला जा रहा हो. सारी क्लास मंत्रमुग्ध सी सुनती रहती है, जैसे कोई दैवी संदेश सुन रही हो. सुनतेसुनते लगता है जैसे इस व्यक्ति के मस्तिष्क में एक बड़े पुस्तकालय की पुस्तकें अत्यंत व्यवस्थित ढंग से चुनी रखी हों."

मधु अपनी धुन में और भी न जान क्याक्या कहती चली जाती, परंतु मेरी मुसकराहट को देख कर तनिक झेंप कर चुप हो गई. मैंने बहुत कहा कि तुम कहे जाओ, लेकिन फिर उस से कुछ कहा ही नहीं गया. वास्तव में मुझे उसकी अलंकृत प्रशंसा बड़ी अच्छी लग रही थी. मैं सोच रही थी कि मैं कैसी भाग्यवान हूं जो ऐसे विद्वान व्यक्ति की निकटतम साथी हूं. मैं मन-ही-मन सोच रही थी, जिस मस्तिष्क की मधु इतनी प्रशंसा कर रही है वह मेरे कितने निकट है, उसे मैं कितनी बार अपने वक्ष पर रख कर स्नेह से दबा चुकी हूं. मधु कहती है कि उस में

एक पुस्तकालय भरा हुआ है. लेकिन मुझे तो वह सिर तनिक भी भारी नहीं लगता. घंटों मैं उसे अपने वक्ष पर रख सकती हूं. झूठी मधु, उसे क्या पता कि वह सिर कितना हलका है.

इस एक घटना से मैं उस दिन क्या, कई दिन तक बड़ी प्रफुल्लित रही. लेकिन कोई ऐसा साधन न हो सका जिसके द्वारा यह प्रफुल्लता चिरस्थायी हो सकती.

जब तबीअत काफ़ी गिरीगिरी सी रहने लगी, तो एक दिन मैंने उन से कहा, "मेरा स्वास्थ्य काफ़ी बिगड़ गया है. हर समय तबीअत गिरी हुई सी रहती है."

"चलो, किसी डाक्टर को दिखा दो," उन्होंने उत्तर दिया.

"दिखाऊं क्या? रोग तो कोई विशेष मालूम नहीं देता."

"तो फिर रोज़ सुबहशाम घूम आया करो. इतनी तो तुम्हारी पड़ोसिनें हैं. मधु, कौशल आदि सभी सुबह घूमने जाती हैं, तुम भी घूम आया करो."

मैंने कोई उत्तर नहीं दिया. उत्तर भी क्या देती? होगा भी क्या स्वास्थ्य सुधार कर? अच्छा है यदि शीघ्र ही जीवन समाप्त हो जाए. परंतु मुझे बचपन से ही जीने की जो उद्दाम लालसा है वह क्षीण हो कर भी अभी पूर्णतः लुप्त नहीं हुई थी. मैंने घूमने जाना आरंभ कर दिया. लेकिन अभी जाते हुए कुछ ही दिन हुए थे कि एक दिन प्रातः जब मैं मधु के साथ कंपनी बाग़ से लौट रही थी तो माल रोड पर एक दंपति जाते हुए मिले. न जाने उन में क्या था कि मेरा हृदय एकदम रो पड़ा. मुझे वे हंसते हुए गुलाब के फूल से भी अधिक प्रसन्न और भोर की चहचहाती हुई चिड़ियों से भी अधिक आनंदित प्रतीत हुए. मैं रास्ते भर चुप ही लौटी. मधु ने लक्ष्य कर के टोका भी.

दूसरे दिन से मैंने घूमने जाना बंद कर दिया. उन्होंने शायद पूछा भी नहीं कि अब मैं क्यों घूमने नहीं जाती. संभवतः इस पर

उनका ध्यान भी न गया हो. इस में उनका कुछ दोष नहीं. लेकिन फिर मैं क्या करूं?

कुछ छिपाती नहीं, मैं अपने मन का पाप बता रही हूं. उनका कालिज के प्रति ऐसा प्रेम देख कर मेरे मन में पाप जागा कि कहीं इस कालिज और काम की आड़ में कुछ और लीला तो नहीं होती. यद्यपि मेरे ऐसा सोचने के लिए कोई कारण न था, फिर भी न जाने कैसे यह भूत मेरे मस्तिष्क में आ जमा. नहीं तो भला फिर मेरे प्रति इस उपेक्षा का क्या कारण हो सकता है?

मन ने जब बहुत उत्पात मचाया, तो एक दिन शाम को मैं उनके कालिज जा पहुंची. केवल एक कमरा खुला था. मैं चिक उठा कर बेधड़क अंदर चली गई. परंतु यह क्या? वहां तो वह बिलकुल अकेले एक ऊंची मेज के पास खड़े अणुवीक्षण यंत्र पर झुके कुछ देखने में तन्मय थे. गरदन से पसीना बह रहा था और पीठ पर कमीज पसीने में बिलकुल तर थी. कोट दूर एक कोने में खूंटी पर टंगा था. कुछ देर तो मैं समझ ही न सकी कि क्या करूं? अंत में मैंने एक पट्ठा उठा कर उनकी पीठ पर हवा करना शुरू किया. सिर उठा कर मेरी ओर देख हंसते हुए बोले, "ओह, बीनू, तुम? कितनी अच्छी हो!"

उस क्षण मुझे कितना आनंद मिला, मैं वर्णन नहीं कर सकती. मैं उस समय यही सोच रही थी कि ऐसी मुसकराट इनके मुख पर हमेशा क्यों नहीं रहती ? रहे तो मेरा जीवन कितना उल्लासमय हो जाए. उफ़, मैं कितनी नीच हूं जो इस व्यक्ति के प्रति दुर्भावना जाग्रत की.

"क्या देख रहे हो?" मैंने कुछ प्रकृतिस्थ हो कर पूछा.

"आओ, तुम भी देखो." कह कर उन्होंने मेरे सिर को अणुवीक्षण यंत्र पर झुका दिया. मुझे विचित्र सा लगा. मैं अपना सिर हटाना ही चाहती थी कि उन्होंने कहा, "देखो, ध्यान से देखो. एक छोटी झिल्ली सी हिलती हुई दिखाई देती है न? यह एक पत्ती की झिल्ली है, इसी

का हिलना तो मैं देख रहा था."

मैंने उस झिल्ली को हिलते हुए देखा. मैं सोच रही थी यह कैसा व्यक्ति है, जो एक पत्ती की झिल्ली का हिलना तो देखता है, परंतु एक जीवित व्यक्ति के हृदय के परदों को हिलता नहीं देख सकता? इसे दृष्टि की सक्ष्मता कहूं या स्थूलता?

मुझे रहरह कर अपने ऊपर बड़ी ग्लानि हो रही थी कि मैंने उनके प्रति ऐसी बात सोची ही क्यों? उस दिन फिर हम दोनों प्रयोग-शाला से साथ ही लौटे. रास्ते भर वह अपने झिल्ली के काम के विषय में ही बात करते आए. कुछ तो मैं समझी, परंतु अधिकांश में 'हां हूं' करती रही, क्योंकि मुझे कोई रस नहीं आ रहा था.

मेरी मां को मुझ से सख़्त शिकायत है कि मैं अपने शृंगार के प्रति बड़ी लापरवा हूं. उनका कहना है कि यही तो खानेपहनने के दिन हैं, फिर क्या भला कोई बुढ़ापे में शौक़ करता है! परंतु मैं उन्हें अपनी बात क्यों कर समझाऊं! आख़िर मैं शृंगार किसके लिए करूं? जिसके लिए किया जाता है उसके लिए तो गुड़ गोबर—सब एक समान है.

उस दिन एक निमंत्रण में जाना था. मैंने पूछा, "क्या पहन कर चलूं?"

"चाहे कुछ पहन लो." सदा की भांति उनका उत्तर था. मुझे लगा जैसे मेरे ऊपर ढेर सा बरफ़ उंडेल दिया गया हो.

अभी कोई एक महीना हुआ होगा. वह अपने नियम के अनु-सार प्रातः उठ कर अपने स्टडी रूम में पहुंच चुके थे. मुझे नींद न आई तो मैं भी उठ गई और बाहर बगीचे में निकल गई. लेकिन वहां पर भी मन नहीं लगा. मुझे किसी से बातें करने की प्रबल इच्छा हो रही थी. अतएव उनके स्टडी रूम का परदा उठा कर अंदर चली गई. वह कुछ लिखने में व्यस्त थे. सामने देख कर निर्लिप्त भाव से बोले, "बैठो."

मुझे उनकी मेज़ पर एक आकर्षक लिफ़ाफ़ा दिखाई पड़ा. लिफ़ाफ़े का चिकना काग़ज़ और उस पर लगी हलकी नीली मोहर— दोनों ही मेरे लिए नई चीजें थीं. मैंने पूछा, "यह किसका पत्र है?"

"देख लो न."

मैंने लिफ़ाफ़ा उठा कर पत्र निकाल लिया. पत्र अमेरिका के किसी वैज्ञानिक का था. इनके काम की बड़ी प्रशंसा करते हुए उसने साधुवाद दिया था और बहुत उज्ज्वल भविष्य की भविष्यवाणी करते हुए कुछ प्रश्न पूछे थे.

"यह कौन हैं?" मेरा प्रश्न था.

"अमेरिका के वनस्पति विज्ञान के प्रमुख वैज्ञानिक हैं."

पत्र को पढ़ कर मुझे लग रहा था जैसे मैं हवा में उड़ी जा रही हूं. अमेरिका के वैज्ञानिक जिसकी इतनी प्रशंसा करते हैं, उस से मैं असंतुष्ट हूं. मुझे तो गर्व होना चाहिए था कि मैं ऐसे व्यक्ति की स्त्री हूं जो किसी दिन संसार के प्रमुख वैज्ञानिकों में से होगा. कौन नारी ऐसे पति को पा कर अपना अहोभाग्य नहीं समझेगी! मैं कुछ बात करने को उद्यत थी. मैंने कहा, "इसने तो बड़ी प्रशंसा की है."

"वे लोग आदमी की क़द्र करना जानते हैं, तभी तो आज संसार के सिर पर बैठे हुए हैं."

मैंने सोचा—कितनी महान् सच्चाई इन्होंने कही है. मेरा कितना दुर्भाग्य है कि इनके इतने निकट रहते हुए भी मैं इन्हें नहीं समझ पाती और समुद्र पार बैठे लोग, जिन्होंने कभी इनको देखा तक नहीं, इनका मूल्य निर्धारण कर रहे हैं.

उस दिन मुझे अपने ऊपर अत्यंत क्रोध आता रहा. मैं मन-ही-मन यह संकल्प करने लगी कि उनके महान् कार्य में मुझे अधिक-से-अधिक सहायक होना चाहिए. उनकी महानता में कुछ अंश मेरा भी अवश्य होगा. गेहूं के साथ बथुए को पानी सदैव लगता है.

लेकिन मेरी समझ में नहीं आता कि मेरी कौन सी विवशता है;

कि ये विचार अधिक दिन तक नहीं जम सके. कहां तक गिनूं? ऐसी कटुमधुर स्मृतियां अनेक बिखरी पड़ी हैं. परंतु मधुर अनुभव तो विस्तृत मरुस्थल में लघु ओसिसों के समान भरे हैं.

मुझे ऐसा लगता है जैसे मुझे किसी बहुत ऊंचे गुंबजदार घेरे में बंद कर दिया गया हो और गुंबज की छत पर खड़ा कोई मुझ से कह रहा हो, "तुम ऊपर आजाओ, मैं नीचे नहीं आ सकता." उफ़, कैसे कहूं कि मैं उस गुंबज तक किसी प्रकार भी नहीं पहुंच सकती! क्या करूं? क्या दीवार से सिर फोड़ कर समाप्त हो जाऊं?

◆◆

डाक्टर शरत

देवीदास कापड़िया

श्री देवीदास बी. कापड़िया का जन्म सन् १९१३ में औरंगाबाद में हुआ था. आपकी मातृभाषा गुजराती है. आप बी. एससी., बी. ईडी. हैं और अध्यापक हैं. मुख्यतः आप अंग्रेजी में ही लिखते हैं, पर इधर हिंदी की ओर भी रुचि हुई है. आपकी सर्वप्रथम कहानी 'सुशीला' 'हंस' में गई थी. उसके बाद अन्य पत्रिकाओं में भी आप कभीकभी लिखते रहे. कुछ प्रांतीय भाषाओं के उपन्यासों की रूपरेखा अंग्रेजी में अनुवाद की है.

तीन महीने बाद जवाब आया था :

"बेटा, तुम्हारी साहसपूर्ण फटकार सत्य है. तुम्हारी नई माता के आते ही एक सप्ताह के भीतर मुझ जैसा नीरोग हृष्टपुष्ट व्यक्ति मानसिक संघर्ष के कारण संक्रामक रोग से ग्रसित हो गया है. मस्तिष्क के पिछले भाग में एक अत्यंत वेदनाजनक पीड़ा रहरह कर उठती है. बहुत से इलाज किए, पर व्यर्थ.

"परसों बंबई के एक प्रख्यात सर्जन भी संयोगवश आए थे. उनका कहना था कि ऐसी बीमारी का इलाज संभवतः इंगलैंड में ही हो सकता है. पर मेरे पास वहां जाने के लिए आर्थिक शक्ति ही कहां है? बेचारी तुम्हारी नई माता! नाम है सुनीता. और स्वभाव समुद्र सा शांत, प्रकृति सा गंभीर. दिनरात हृदय से सेवाशुश्रूषा करती है. कभी-कभी मैं सोचने लगता हूं--यह अनर्थ मैंने क्यों किया, तो यथार्थ में वह मुझे अपनी लड़की सी प्रतीत होती है. सच मानो मेरी अंतर्वेदना मुझे स्वयं खाए जाती है. उफ़, यह मैंने क्या किया? बेटा, हो सके तो तुरंत वापस आ जाओ. आह, फिर दर्द ..."

डाक्टर शरत को मानो पिता की दर्दभरी चीत्कार सुनाई दी. वह बेचैन हो उठे--न जाने बापू की इस समय क्या दशा होगी! बंबई वाले सर्जन ने कहा था, इसका इलाज शायद इंगलैंड में ही हो सकता है. आखिर क्यों? क्या यहां मनुष्य नहीं बसते? क्या यहां उच्चतम योग्यता का दुष्काल है? नहीं, असल कारण है भारत की पराधीनता. विदेशियों को हमारी क्या परवा? और यदि परवा करने लग जाएं, तो उनकी बसर कैसे हो. केवल नॉर्थ सी और इंगलिश चैनल की मछलियों पर कब तक जीवन निर्वाह हो सकेगा?

इस समय डाक्टर शरत को बाहर हलचल महसूस हुई. वह उठे और बाहर निकले. उधर सूर्य क्षितिज के ऊपर जा रहा था, इधर भारत भूमि नज़दीक आ रही थी.

बंबई पहुंचने पर वह एक होटल का नाम बता कर विक्टोरिया

पर चढ़े. मेन रोड पर जब ट्रैफ़िक की भरमार के कारण थोड़ीथोड़ी दूर पर विक्टोरिया के कई बार रुकने से वह तंग आ कर झल्लाए, तो उस बातूनी कोचवान से उत्तर मिला कि बंबई की जनसंख्या दुगुनी से भी अधिक हो गई है. लाखों ग़रीब फ़ुटपाथ पर सोते हैं. और हज़ारों, जिनके घर भी हैं, उनका यह हाल है कि एकएक कमरे में चार-चार पांचपांच परिवार रहते हैं. एक ओर हज़ारपति लखपति बनते जा रहे हैं और लखपति करोड़पति, और दूसरी ओर ग़रीबों को खाने को अन्न नहीं है, पहनने को वस्त्र नहीं है. आवश्यक चीज़ें मिलती भी हैं तो पांचछः गुने दामों से कम में नहीं.

और जब वह 'शांति लाज' पहुंचे तो उन्होंने देखा लाज के गुजराती सेठ को घेरे हुए लोगों का एक झुंड खड़ा था, और सेठजी कह रहे थे, "भई, हम थोड़े ही आप लोगों को जाने के लिए कहते हैं. लेकिन क्या करें! सब कमरे भरे हुए हैं, वक़्त ही ऐसा आ गया है--क्या करें!"

डाक्टर शरत पीछे ही खड़े रहे.

सबके जाने के बाद जब सेठजी ने उन्हें देखा तो कहा, "ओहो, आप आए हैं! बहुत दिनों के बाद." डाक्टर शरत ने इंगलैंड से आने का हाल सुनाया. फिर कहा, "मैं आज शाम की गाड़ी से ही युगलपुर जा रहा हूं, सेठजी." सेठजी ने अपने निजी कमरे में शाम तक के लिए उनकी व्यवस्था कर दी. डाक्टर शरत ने हार्दिक धन्यवाद दिया.

दूसरे दिन युगलपुर पहुंचने पर बुकस्टाल से साप्ताहिक 'निडर' की एक प्रति खरीद कर डाक्टर शरत टांगे पर चढ़े. 'शरत भवन' आ पहुंचा. वह तेजी से अंदर गए. बड़े हाल में प्रवेश किया ही था कि उनकी नज़र सामने खड़ी एक युवति पर पड़ी.

वह एकदम रुक गए. गौर वर्ण, अलौकिक सौंदर्य, प्रभावशील गांभीर्य, अद्भुत आलोक. वह कुछ घबरा से गए. युवति भी अपलक नेत्रों से मंत्रमुग्ध सी उनके स्वस्थ शरीर, गुलाबी चेहरे, बड़ी काली आंखें,

तेज, नुकीली नाक और घूंघर वाले बालों को निहारती रह गई. एक क्षण दोनों मूर्त्तिवत खड़े रह गए. पर तुरंत ही परिस्थिति का ज्ञान होने से मानो खोई हुई चेतना वापस आ गई. आंखें नीचे झुक गईं. उन्हें पिता के पत्र की सुनीता का स्मरण हो आया.

तब उन्होंने हाथ जोड़ कर अभिवादन किया, "नमस्ते !" और उत्तर में सुना एक मधुर किंतु व्यथित सा स्वर, "नमस्ते!"

"मैं... मैं..." डाक्टर शरत ने विकंपित स्वर में अपना परिचय देने का प्रयास किया.

"जानती हूं," सुनीता का धीमा उत्तर आया. "बेहद थक गए हैं आप. चलिए..."

"परंतु मैं बापू से..."

"मैं नहाने को पानी गरम करवाती हूं." और वह दरवाजे की ओर मुड़ी.

"पहले मैं बापू..."

सुनीता रुक गई और प्रयत्न करने पर भी वह अपने आंसू न रोक पाई. डाक्टर शरत ने सब कुछ समझ लिया. उनका शरीर कांपने लगा. "ओह, बापू!" और वह वहीं माथा थाम कर बैठ गए.

डाक्टर शरत अपने कमरे में गए तो स्वर्गीय बापू का चित्र देखते ही स्मृतियों की बाढ़ सी आ गई. वह बालकों की तरह रो पड़े. तभी सुनीता ने कमरे में प्रवेश किया. देख कर बोली, "छिः! यह क्या कर रहे हैं आप? चलिए, सब तैयार है."

डाक्टर शरत ने आंखें पोंछ लीं और साथ हो लिए. भोजन करने के बाद जब वह अपने कमरे में एक आरामकुरसी पर लेटे, तो उन्हें महसूस हुआ कि आज हमेशा से बहुत अधिक खा लिया है. कैसा स्वादिष्ट भोजन था! कितने आग्रह से सुनीता ने खिलाया था. और तभी 'सुनीता!' संबोधन से उन्हें धक्का लगा. मन-ही-मन उन्होंने कहा, "यह तो मां है."

मां? उन से भी छोटी उमर वाली युवति उनकी मां कैसे? क्या बापू के थोड़ा घी होम कर उसे चार जनों के सामने अपनी पत्नी कह देने से ही? क्या उनके वास्तविक संबंध का कोई दख़ल ही नहीं? क्या बापू ने एक पत्र में स्पष्टतः नहीं लिखा था कि विवाहोपरांत उनका संबंध उस से केवल पुत्री का सा ही रहा है? पर यह तो बुद्धिवादी दृष्टिकोण है, सामाजिक नहीं. समाज उनके तर्क को हरगिज़ न मानेगा. उसने तो अपनी आंखों से विवाह यज्ञ की ज्वालाएं देखी हैं. अपने कानों से वर वधू के वचन सुने हैं...

डाक्टर शरत विचारों में गहरे डूबते चले—कुछ भी हो, मनुष्य को समाज में रहना है, तो उसे समाज का लिहाज़ करना ही पड़ेगा. तो बस, अब से वह अपने मनोदौर्बल्य का दमन करेंगे. अब से सुनीता उनके लिए...

इसी समय बाहर सुनीता ने किसी काम से नौकरानी को पुकारा. हठात् उनका मन उस ओर आकर्षित हो गया. तब उन्हें महसूस हुआ कि उनके पैर दरवाज़े की ओर बढ़ चुके हैं. सिर को उन्होंने झंझोड़ा मानो उसके विचारों को झटक कर बाहर फेंक देना चाहते हों.

डाक्टर शरत ने निश्चय किया कि वह अपने को सदा व्यस्त रखने का अटूट प्रयत्न करेंगे. कार्य ही जीवन का प्राण है. अपने को कुविचारों से सुरक्षित रखने का इस से अच्छा और क्या उपाय हो सकता है.

उन्होंने सोचा—एक सर्जन ने कहा था इस बीमारी का इलाज इंगलैंड में ही संभव है. वह यहां भी हर बीमारी का इलाज संभव कर दिखाएंगे. अपने सर्जरी के विशेष ज्ञान द्वारा वह देश सेवा करेंगे. पर इसके लिए साधन? साधन प्राप्ति के लिए धन? फिर सोचा कि अभी डिस्पेंसरी ही खोल लेंगे.

पूरे एक सप्ताह तक वह डिस्पेंसरी खोलने के लिए दौड़धूप करते रहे. बीच में समय मिलता तो 'युद्धकालीन भारत' पुस्तक की तैयारी

में लगे रहते. आठवें दिन जब डिस्पेंसरी खोलने का समय आया तो हृदय में एक प्रश्न उठा. डिस्पेंसरी का नाम? और भीतर से आवाज़ आई : सुनीता मैडिकल हाल.

पर वह विक्षिप्त हो गए. ओह, फिर वही! अभी भी मन पर से उसका प्रभाव नहीं मिटा. कैसा मनोदौर्बल्य! नहीं, वह यह नाम हरगिज़ नहीं रखेंगे. यदि स्वयं सुनीता ही कुछ समझ बैठी इस से तो?

डाक्टर शरत की इस शंका का कारण था. सुनीता इन आठ दिनों में उन से कुछ दूरदूर रहने का प्रयत्न करती जान पड़ती थी. उन्होंने देखा था वह गंभीर होती जा रही है. बोलती भी कम है. केवल 'हां ना' से काम चलाने लगी है. ऐसा क्यों? क्या उसे कुछ संदेह हो गया था उन पर? क्या वह उनके अंतस्तल की बात जान गई थी? क्या अनजाने उन से कोई ऐसी बात हो गई है?

डाक्टर शरत को लगा मानो उनके मस्तिष्क के भीतर ही एक भट्टी जल रही हो और अदृश्य लुहार ज़ोरज़ोर से हथौड़ा चला रहा हो. उन्होंने खिड़की खोली. मंद वायु चल रही थी. मिट्टी की भीनी सुगंध आ रही थी. उन्होंने एक गहरा निःश्वास छोड़ा.

कुछ दिन बाद 'शरत भवन' में 'पीपल्स डिस्पेंसरी' खुल गई. और एक सप्ताह बाद अल्पभाषिणी सुनीता ने कुछ पूर्ण वाक्य कहे. बोली, "नौकरानी कहती थी चारों ओर से डाक्टर साहब पर आशीर्वादों के फूल बरस रहे हैं. डिस्पेंसरी में मुफ़्त दवा लेने वाले बहुत ज़्यादा आते हैं. मैं पूछती हूं कि क्या कोरे आशीर्वादों से दुनिया का काम चल सकता है?"

"क्यों नहीं!" डाक्टर शरत ने मुसकरा कर जवाब दिया. "पर एक बात और भी तो है. मेरे पास ऐसे मूर्ख धनी भी तो आते हैं जिन्हें कुछ व्याधि न होने पर भी अपनेआप को बीमार समझने की

बीमारी है. इन ग़रीबों के लिए मैं उन से काफ़ी खींच लेता हूं."

सुनीता मुसकराई. डाक्टर शरत को मुसकान से अपूर्व आनंद हुआ. क्या ही अच्छा हो वह सदा यों ही मुसकराती रहे, और वह बैठे देखते रहें--आत्मविभोर.

डाक्टर शरत डिस्पेंसरी पहुंचे तो सड़क पर उस ओर बस से उतरते हुए एक व्यक्ति पर उनकी दृष्टि पड़ी. कुछ परिचित सा जान पड़ा. जैसे ही वह सड़क के इस ओर आया, दोनों ने एकदूसरे को पहचाना. "ओहो, आप सेठजी? यहां?" डाक्टर शरत ने कहा.

"डाक्टर साहब, आप यहां रहते हैं? आपको देख कर बड़ी प्रसन्नता हुई," 'शांति लाज', बंबई, के सेठ ने उत्तर दिया.

डाक्टर शरत उन्हें अंदर लिवा ले गए. पूछा, "यहां युगल-पुर कैसे आना हुआ?"

"हमारा वह बड़ा बंगला है न यशवंत रोड पर, उसको हमारे एक बहुत बड़े जागीरदार दोस्त ख़रीदना चाहते हैं. उसके वास्ते..."

"अच्छा!"

"हमने सोचा पांचपचास हज़ार इस ज़मान में कमा लेंगे."

"पचास हज़ार?"

"हां, जी, आजकल लड़ाई के ज़माने में दाम दुगुनेतिगुने हो गए हैं. पहले का बना है."

"अच्छा! बहुत धनी मालूम होते हैं आपके जागीरदार."

"इतने कि जिसका नाम—करोड़, नहीं, नहीं, अरबपति. लेकिन यह सब उनके लिए मिट्टी सा है. उन बेचारों के कोई भी नहीं. लेकिन आप तो इंगलैंड रिटर्न डाक्टर हैं. देखो, अच्छी याद आई. कुछ हो जाए तो कमाने का अच्छा ज़रिया है. इन जागीरदार साहब के चार पत्नियां होने पर भी बहुत वर्षों बाद जंतरमंतरों से एक बच्चा हुआ. कभीकभी वह लड़का दीवाना हो जाता है. उफ़! भयंकर स्थिति हो जाती है. आदमियों को पकड़पकड़ कर उनका गला दबाने लगता है. उस समय

किसी को नहीं पहचानता. एक दिन एक नौकर का गला बिलकुल घोंट दिया. जब जागीरदार साहब वहां पहुंचे, तो उनका पीछा करने को दौड़ा. वह अपनी जान बचा कर भागे. तब से उसकी देखभाल के लिए चारचार नौकर रहने लगे. इस पागलपन में वह अब तक चार को मार चुका है. बाप ने रुपए से उनके परिवार वालों का मुंह बंद कर दिया. एक महीना पहले वह एक बार फिर पिता के पीछे दौड़ा. परसों वह मुझे बंबई में मिले थे. कहने लगे, लड़के को जहर दे दूंगा. अनेक डाक्टरों ने प्रयत्न किया, पर बेकार. लाखों रुपया बरबाद हो गया. मैं कहता हूं, आप क्यों नहीं प्रयत्न करते? मैं आपको मिला दूंगा. वह तो मेरे परम मित्र हैं. बोलो, मंज़ूर है?"

डाक्टर शरत ने नजर उठा कर कहा, "मैं जरूर कोशिश करूंगा, सेठजी, परंतु मेरी फ़ीस?"

"उसकी कुछ चिंता न करें." और जैसे सेठजी को यकायक कुछ याद आ गया हो, बोले, "मुझ से एक बड़ी भारी ग़लती हो गई."

"क्या?"

"चारपांच आदमियों को मार डालने की बात गुप्त रखने की थी. जागीरदार साहब ने सिवाए मेरे यह भेद किसी को प्रकट नहीं किया है. पर तुम तो मेरे लंगोटिया मित्र हो, तुम से क्या भेद! ख़ैर, तुम अनजान बन जाना."

"जी, हां."

दोनों दरवाजे की ओर गए और सेठजी ने एक टांगेवाले को पुकारा.

साथ ले जाने वाली आवश्यक वस्तुओं की सूची तैयार करते समय उन्हें यकायक याद आया—अरे, सुनीता को कुछ नहीं बताया अभी तक. और वह तुरंत उसके कमरे में गए. पूरा विवरण बताया.

सब कुछ सुनाने के बाद उन्होंने कहा, "मैंने सोचा इस ओर एक प्रत्यक्ष अनुभव हो जाएगा. इस अभागे देश के डाक्टरों में आत्म-

विश्वास बढ़ जाएगा. और एक बहुत बड़ी चीज... क्या बताऊं?"

"क्या?"

"फ़ीस लूंगा जबरदस्त. 'पीपल्स सर्जिकल हाल' खोलने के लिए."

"हवाई क़िले! लाखों रुपए चाहिएं."

"लाखों ही लाऊंगा."

"देने वाला?"

"दे कर ही रहेगा. तरकीब सोच ली है, सफल होने पर बताऊंगा."

और उत्तर में डाक्टर शरत ने पाई वही स्वर्गीय मुसकान जिस में उन्होंने अपनी प्रशंसा देखी, और आदर व सफलता के लिए सुनीता की हार्दिक कामनाएं.

चौपटपुर की पुरानी विशाल ड्योढ़ी में बेडौल, मूर्खाधिराज जागीरदार साहब ने डाक्टर शरत का स्वागत किया. फिर उन्हें एक खिड़की के लोहे के सीखचों के पीछे एक बहुत बड़े झूले पर सोया हुआ, संकलों से जकड़ा हुआ वह जीव दिखाया गया. पहले डाक्टर शरत ने उस पर एक सरसरी नजर दौड़ाई और फिर जागीरदार साहब से अकेले में कहा, "पहले मुझे इनका रक्त देखना है, जागीरदार साहब."

"हां, हां, मैं दोचार नौकर बुलवा..."

"जरूरत नहीं. मैं रोगी को दवाई से बेहोश कर दूंगा."

अंदर जा कर डाक्टर शरत ने रोगी का कुछ रक्त निकाल लिया. शाम तक उसकी जांच कर के फिर एकांत में जागीरदार साहब से कहा, "इस रोग को वाएलेट क्रिमिनोमेनिया कहते हैं. इलाज करने से पूर्व हमें मालूम कर लेना पड़ता है कि रोग किस दर्जे तक पहुंच चुका है. हर हत्या के बाद रक्त में खास कीटाणुओं की विशेष मात्रा में वृद्धि होती है. उसके हिसाब से यह पता चलता है कि रोगी ने चार हत्याएं की हैं."

जागीरदार साहब एकदम बौखला से गए, "न...न... नहीं... नहीं!"

"मैं अनुमान कर सकता हूं कि क़ानून के डर से यह गुप्त रखना पड़ा होगा. पर मुझ से घबराने की कोई बात नहीं. इसी लिए तो मैंने सेठजी को भी अलग..."

"आप..."

"अब इलाज के विषय में. मैं इनके मस्तिष्क का आपरेशन करूंगा. सफलता की तो पूर्ण आशा है. परंतु कुछ हो भी जाए..."

"तो जोखिम आपका न रहेगा. मंज़ूर. तंग आ कर मैं उसे स्वयं ही विष..."

"मेरी फ़ीस पांच लाख रुपए..."

"अरे बाप रे!"

"अरबों की संपत्ति का वारिस पाने के लिए यह बहुत ही तुच्छ रक़म है. और सरकार को चार हत्याओं का हिसाब चुकाने से बच जाने का सर्वोत्तम उपाय."

जागीरदार साहब ने एक मिनिट के मौन के बाद स्वीकृति दे दी.

पांचवें दिन आपरेशन सफलतापूर्वक समाप्त हुआ. भारत को भी इस सफलता से असीम गौरव प्राप्त हुआ. पर डाक्टर शरत ने इस सब में कोई खास दिलचस्पी नहीं ली. उनका मन खिंचा जा रहा था 'शरत भवन' की ओर. जब वह घर पहुंचे तो सीधे दौड़े सुनीता के पास. एक ही सांस में सब कुछ सुना उन्होंने अंत में कहा, "मैंने कहा था न, पांच लाख पाने की एक तरकीब सोची थी, अब बताता हूं." सुनीता मुसकरा पड़ी. और डाक्टर शरत ने उस में देखा अपना आदर, प्रशंसा. उनका हृदय आनंद सागर में हिल्लोरें मारने लगा.

पंदरह दिन बीते 'पीपल्स सर्जिकल हाल' की विविध योजनाओं एवं तैयारियों में, और सैकड़ों बधाई के तारों का उत्तर देने में. इन मे

से एक था उनके पूज्य प्रोफ़ेसर का. लिखा था: "बहुत खुश हुआ. आप मेरे इनेगिने शिष्यों में से हैं, जिन पर मुझे अभिमान है. आपकी अधिकाधिक सफलता का अभिलाषी हूं." पढ़ कर डाक्टर शरत हर्षित हो उठे. वह उठने को ही थे कि चपरासी ने उन्हें एक पत्र ला कर दिया.

पढ़तेपढ़ते डाक्टर शरत आशाओं से प्रफुल्लित हो उठे. सारांश बताते हुए उन्होंने सुनीता से कहा, "युगलपुर के युवराज के पेट में कुछ महीनों से भारी वेदना हो रही है. चौपटपुर के आपरेशन की सफलता सुन कर वह अपने इस इकलौते राजकुमार का आपरेशन मेरे हाथों ही कराना चाहते हैं. क्यों, हाथ आ गया न एक और स्वर्ण अवसर 'पीपल्स सर्जिकल हाल' के लिए? अपने महाराज बहादुर तो उदारता के लिए मशहूर हैं. मुझे ऐसा लगता है मानो कोई ऐसी विशेष शक्ति है जो सफलताओं को मेरे रास्ते में खींचे ला रही है." कहतेकहते डाक्टर शरत कुछ सकपका गए मानो वह ज़रूरत से ज़्यादा बोल बैठे हों.

इसको समझ कर ही बात का रुख बदलने के लिए सुनीता बोली, "इन राजामहाराजों में उदारता से झक्कीपन की मात्रा अधिक होती है. इनकी उदारता से डर कर अलग रहना ज्यादा अच्छा है. जहां तक मैंने सुना है युगलपुर नरेश अन्य राजामहाराजों से भिन्न नहीं हैं. उनका दरबार धूर्तों और चापलूसों से भरा हुआ है. वह स्वयं एक नंबर के चापलूसीपसंद हैं. कान के कच्चे हैं."

"हां, हमें क्या! मैं तो पहले ही सब बातें साफ़ तय कर लूंगा. अरे! उनका चपरासी मेरी प्रतीक्षा कर रहा होगा." डाक्टर शरत तुरंत बाहर गए. चपरासी को उन्होंने स्वीकृति का लिखित उत्तर दे बिदा किया.

तीन दिन बीत गए. आज आपरेशन का दिन था. नियत समय में एकडेढ़ घंटा शेष था. डाक्टर शरत संपूर्ण तैयारी कर चुके थे. सहसा उन्हें ध्यान आया कि अभी थोड़ी देर में स्टेट कार आ जाएगी. जल्दी सुनीता से दो बातें कर लें. उन्हें लगा जैसे वही उनकी सफलताओं

की शक्ति है, वही उनकी प्रेरणा है. सुनीता मानो उनकी बाट जोह रही थी. देखते ही बोली, "न जाने क्यों इस आपरेशन के बारे में मुझे कुछ खटका सा लग रहा है."

"राजामहाराजों के झक्कीपन का नया उदाहरण याद आ गया है या और कोई विशेष कारण है?"

"कुछ देर पहले पढ़तेपढ़ते मेरी आंख लग गई थी और नींद में..."

इसी क्षण मोटर के हार्न की आवाज आई. "ओह, स्टेट कार आ गई !" कह कर डाक्टर शरत उठे और दरवाजे की ओर बढ़े.

"मुझे एक बुरा स्वप्न दिखाई दिया," सुनीता कहती गई.

"स्वप्न?" डाक्टर शरत हंसे.

"हां, स्वप्नों का सत्य होना असंभव नहीं. मैंने शेक्सपीयर के एक हिंदी अनुवाद में पढ़ा था, सम्राट जूलियस सीजर ने भी अपनी पत्नी के स्वप्न की..."

और सुनीता यकायक रुक गई. एकदम वह हकबकाई सी रह गई. डाक्टर शरत भी परेशान हो गए. हार्न की और भी तेज आवाज सुन पड़ी. डाक्टर शरत विद्युत गति से बाहर निकल गए.

कार दौड़ी चली जा रही थी. डाक्टर शरत के मस्तिष्क में सुनीता के आखिरी वाक्य का एकएक शब्द गूंज कर टकरा रहा था. सीजर की पत्नी का स्वप्न ! सीजर के अनिष्ट का स्वप्न ! सुनीता को उनके अनिष्ट का स्वप्न आया! सुनीता ने यह तुलना क्यों की? दमन की गुप्त कामना को उसने क्यों जाग्रत कर दिया? क्या सुनीता ने जानबूझ कर... छिः! सुनीता सी गंभीर, विचारशील स्त्री से ऐसी आशा? ऐसे विचार? नहीं, यह उसके साथ अन्याय है... डाक्टर शरत को एक विचित्र कंपन का अनुभव हुआ. उनके मस्तिष्क में विचारों की उलझन ने एक द्वंद्व पैदा कर दिया. दो रूप थे, दो आकर्षण, दो धाराएं. मां—नहीं, पत्नी. नहीं, मां. एक ओर था समाज, दूसरी

ओर था तीव्र बुद्धिवाद. डाक्टर शरत ने सिर को दोनों हाथों से दबा लिया. सिर जैसे फटना चाहता है, डाक्टर शरत एक खीज के साथ उसे और जोर के साथ दबाने लगे. यही सब सोचतेसोचते वह राजमहल जा पहुंचे. वहां अपने को संभाला.

दरबार के सर्जन डाक्टर शंकरराव जब डाक्टर शरत से मिले, तो उन्होंने ऐसी प्रसन्नता से हाथ मिलाया मानो डाक्टर शरत के बुलाए जाने से उनका तनिक भी अपमान नहीं हुआ है. परंतु वह नहीं जानते थे कि प्रकृति ने उनकी कृत्रिम मुसकराहट में एक ऐसी कठोर रेखा खींच दी थी जिसको खोए हुए डाक्टर शरत को छोड़ कर शायद ही कोई दूसरा ऐसा हो जो न समझ सका हो.

दरबार के सभी विशेष व्यक्तियों को ज्ञात था कि डाक्टर शंकरराव और मंत्रीजी में आज तक किसी प्रकार के प्रीतिव्यवहार का प्रमाण नहीं मिला. दोनों सदा एकदूसरे की कन्नी काटने में लगे रहते हैं. यद्यपि डाक्टर साहब अपनी बीस वर्षों की नौकरी के बल पर अपने पद पर टिके हुए हैं, तथापि उन्हें मंत्रीजी से टक्कर लेने में प्रायः मुंह की ही खानी पड़ी है. दो सप्ताह पूर्व ही जब राजकुमार के आपरेशन का प्रश्न उपस्थित हुआ था, तो तत्काल मंत्रीजी ने डाक्टर शंकरराव को अपमानित करने की एक योजना खोज निकाली थी.

डाक्टर शरत के चौपटपुर वाले आपरेशन ने देश भर में सनसनी फैला दी थी. मंत्रीजी ने तुरंत महाराजश्री को समझा दिया था कि उनके इकलौते राजकुमार का आपरेशन डाक्टर शरत जैसे असाधारण सर्जन द्वारा ही होना चाहिए और महाराजाधिराज ने फ़रमाया था, "अवश्य!" डाक्टर शंकरराव को ख़ून का घूंट पी कर रह जाना पड़ा था. मंत्रीजी को इस पर भी संतोष न हुआ और उन्होंने महाराज से सादर निवेदन किया कि युवराज के इस कठिन आपरेशन में एक से दो डाक्टरों का रहना अधिक अच्छा होगा. अतः डाक्टर शंकरराव को डाक्टर

शरत का असिस्टेंट रखा जाए. और महाराजाधिराज ने फ़रमा दिया था, "बिलकुल ठीक है."

आपरेशन का समय आया. डाक्टर शरत आपरेशन में लगे. डाक्टर शंकरराव उनके निकट खड़े थे.

डाक्टर शरत को कुछ संतोष सा हो रहा था कि उनकी मनःस्थिति विशेष ठीक न होते हुए भी वह सफलतापूर्वक अपना काम कर पा रहे थे. वह इतने संलग्न हो गए थे कि उन्हें ध्यान भी न रहा कि कार्यारंभ के पूर्व उनका रूमाल नीचे गिर गया. आपरेशन समाप्त होने पर डाक्टर शंकरराव ने इशारे से बताया कि टांके लगाने का साधारण सा काम उन पर छोड़ा जा सकता है. सधन्यवाद डाक्टर शरत ने स्वीकार किया. वह वहां से हट गए. जब थोड़ी देर बाद जरूरत पड़ने पर उन्हें जेब में रूमाल न मिला, तो वह आश्चर्य में डूब गए. राजमहल जैसे स्थान में तुच्छ रूमाल के लिए पूछताछ करना हास्यास्पद सा जान वह चुप रहे. निश्चयात्मक नतीजा मालूम होने तक उनका रोगी के निकट रहना आवश्यक था, अतः वह राजमहल में ही ठहर गए.

थोड़ी ही देर बाद सहसा रोगी ने वेदना और विचित्र भय से चिल्लाना तड़पना शुरू किया. सब परेशान हुए. केवल डाक्टर शंकरराव के चेहरे पर एक प्रकार का गुप्त संतोष था. आखिर क्या कारण हो सकता है! डाक्टर शरत की समझ में न आ रहा था.

इतने में डाक्टर शंकरराव ने एक अनुभवी की भांति गंभीर एवं शांत मुद्रा से कहा, "मेरा ख्याल है टांके खोल कर देखा जाए." तत्काल इस सलाह पर अमल हुआ. टांकों के नीचे ठीक पेट के समीप वह रूमाल दिखाई दिया. डाक्टर शरत हक्केबक्के हो सोचने लगे. आखिर आज वह यह क्या कर बैठे? पर यदि रूमाल अनजाने गिर ही गया था, तो डाक्टर शंकरराव ने क्यों नहीं निकाल लिया? परंतु उनका क्या दोष. यह तो नीचे की तह से निकला है. आखिरी तह तक सभी अवयव

स्वयं उन्होंने ही तो जमाए थे. डाक्टर शंकरराव को वह निचली तह का रूमाल कैसे दिखाई देता? ख़ैर, उत्तरदायित्व तो मेरा ही है.. आख़िर विषम परिस्थितियों ने अपना काम किया ही. सुनीता के उन शब्दों ने अपना चमत्कार दिखा ही दिया. ओह, किस अशुभ मुहूर्त में उसने कही थी पत्नी के स्वप्न वाली बात. ओह, सुनीता, यह...

जब हताश पराजित से डाक्टर शरत घर की ओर लौटे तो वह विचारों में डूबे हुए थे. घर पहुंचते ही वह सुनीता को अपने दिल की बात बता देंगे. अपनी गुप्त व्यथा का हाल सुना देंगे. उसे समझाएंगे कि जब बापू से उसका संबंध केवल पुत्री का सा ही रहा है, तो क्या अर्थ है खींचतान कर उनके माता पुत्र बने रहने का? दो जीवनों के असमय नष्ट होने देने का? नरक में जाए ऐसा लकीर का फ़क़ीर समाज.

डाक्टर शरत को अपनेआप पर आश्चर्य हुआ. उनके विचारों में कैसा परिवर्तन? इस परिवर्तन का कारण? प्रेम! प्रेम क्या नहीं करा देता! और...इसी क्षण वह एक मोटर की टक्कर से बचे ठीक 'शरत भवन' के सामने. तेजी से वह अंदर दौड़े. सीधे सुनीता के कमरे में पहुंचे. पर यह क्या? कोई नहीं? कहां है सुनीता? नौकरानी से भी पता न चला. उन्होंने सारा घर छान मारा, पर सुनीता कहीं न मिली. जब वह अपने कमरे में गए, तो सहसा दरवाजे के समीप पड़ी एक चिट्ठी पर उनकी नजर पड़ी. ऊपर लिखे 'डाक्टर शरत' से ही उन्होंने सुनीता का ख़त पहचान लिया.

कांपती उंगलियों से उन्होंने वहीं चिट्ठी खोली, पढ़ा:

"जिस दिन पहली बार आपको देखा, मैंने विचार किया अब यहां रहना उचित नहीं. और फिर जब मैंने महसूस किया कि मेरे प्रति आपके हृदय में अनुराग उत्पन्न हुआ है, तो मेरा विचार और भी दृढ़ हो गया. पर साथ ही मेरा दिल आप से दूर होना भी नहीं चाहता था. मैंने निश्चय किया कि मैं अपने हृदय की आग को यथाशक्ति दबाए

रखूंगी. इसी लिए दूरदूर खिचींखिची रहने लगी. पर व्यर्थ. यह आग आज दोपहर को एक विचित्र ज्वालारूप में निकल ही पड़ी. न जाने क्यों सीजर की पत्नी की उपमा देने पर एक जघन्य अपराध मुझे अपने में छिपा हुआ लगने लगा.

"अब मैं जा रही हूं—आत्मघात के लिए नहीं. मैं वैसी कायर नहीं. होती तो विधवा आश्रम के उन धूर्त्तों के असह्य कष्टों से मुक्ति पाने के लिए ही न करती, जिन से बचने के लिए मैंने आपके पिताजी से विवाह किया? मैं अब जीवन से लड़ने जा रही हूं. मेरा यहां अधिक रहना हम दोनों के लिए श्रेयस्कर नहीं, और आपके लिए विशेष-कर. कौन जाने मनुष्य का मनोदौर्बल्य कब क्या करा बैठे! आपका पवित्र ध्येय है देश प्रेम, दीन सेवा, जन उन्नति और इस में सफलता प्राप्त करने के लिए जनता की दृष्टि में निष्कलंक चरित्र वाला होना आवश्यक है. मुझे यह विश्वास है कि यह मेरी अनुपस्थिति में ही संभव हो सकेगा. आपके 'पीपल्स सर्जिकल हाल' की अपूर्व सफलता की महत्त्वा-कांक्षिणी."

डाक्टर शरत की कांपती उंगलियों से वह चिट्ठी गिर पड़ी और ज़ोर से उन्होंने अपने सिर को दबा लिया.

◆◆

महावत ख़ां

आनंदप्रकाश जैन

श्री आनंदप्रकाश जैन का जन्म उत्तर प्रदेश के शाहपुर नामक स्थान में सन १९२६ में हुआ था. सन १९४० में आपने अपनी पहली कहानी 'जीवन नैया' लिखी.

आप स्वतंत्र लेखक हैं और आपकी लिखने की गति बहुत तीव्र है. आपकी अनेकों कहानियां पत्रपत्रिकाओं में प्रकाशित होती रही हैं. आपने एक कहानी मासिक 'कल्पना' भी चलाया था.

शहरयार, परवेज़, ख़ुसरो व ख़ुर्रम—मुग़ल सम्राट जहांगीर के ये चार बेटे तख़्त के लिए जी तोड़ रहे थे. शहरयार को अगर भारत सम्राज्ञी नूरजहां का कृपापात्र होने का सौभाग्य प्राप्त था, तो ख़ुसरो की सुंदरता और स्वभाव अमीरउमराओं को जीते हुए थे. ख़ुर्रम—भावी शाहजहां—के पास ताक़त थी, तो परवेज़ को षड्यंत्रों पर विश्वास था.

ख़ुसरो असफल रहा, पकड़ा गया. जहांगीर ने एक घनी मूंछों वाले लंबेतगड़े रोबदार जवान को उसकी आंखें फोड़ने के लिए नियत किया. इस जवान का नाम था महावतख़ां...

शाही बुर्ज के नीचे शाही मुसव्विर जोगेंद्रनाथ सामने रखी तसवीर में प्रकाश और छाया का मिश्रण कर रहे थे. यह व्यक्ति कभीकभी तत्कालीन राजनीति में भारी गड़बड़ कर देता था. १६०८ ई. में जब हॉकिंस इंगलैंड से हिंदुस्तान आया, तो जहांगीर ने खुले हृदय से उसका स्वागत किया था. उसने अंग्रेज़ी व्यापार के लिए मनचाही सुविधाएं प्राप्त की थीं. १६१५ ई. में जब थॉमस रो हिंदुस्तान आया, तो जहांगीर की ओर से उपेक्षापूर्ण इनकार सुन कर उसे बड़ा अचंभा हुआ. बेचारे को कैसे एक बहुत मूल्यवान मोती प्रधान मंत्री आसफ़ख़ां के हाथों नहीं के बराबर मूल्य में बेचना पड़ा, नूरजहां को हीरों व मोतियों की क़ीमत के खिलौने भेंट देने पड़े—ये अलग बातें हैं, लेकिन इनके पीछे शाही मुसव्विर जोगेंद्रनाथ की कारगुज़ारी थी. ऐन अवसर पर उन्होंने एक तसवीर दीवान ख़ास में जहांगीर के सामने पेश की थी. चित्र में भारत का एक किनारा था, दूर से आकाश में बड़ीबड़ी, काली और भयंकर घटाएं छाती चली आ रही थीं. इन घटाओं के नीचे क्षितिज पर दस बड़ेबड़े जहाज़ तोपों के मुंह किनारे की ओर किए चले

आ रहे थे और किनारे पर एक अंग्रेज आंखों पर हाथ की छाया किए, प्रतीक्षा का भाव लिए उनकी ओर देख रहा था.

जहांगीर तसवीर को घंटों मंत्रमुग्ध सा बैठा देखता रहा था और जब उसे चेतना आई तो उसे मालूम हुआ कि वह अपने गले का अत्यंत मूल्यवान कंठा मुसव्विर को इनाम में दे चुका था. महावतख़ां जोगेंद्रनाथ को तब से जानता था. इस व्यक्ति की बातें उसे बड़ी महत्त्वपूर्ण और रहस्यभरी लगती थीं. महावतख़ां का अक्खड़ दिमाग़ उन्हें समझने की कोशिश करता था. समझता था या नहीं--यह नहीं कहा जा सकता. संभव है समझता हो, किंतु अमल के लिए राह न मिलती हो...

इस भयानक कांड का संपादन करने के लिए महावतख़ां के क़दम जिस समय पथरीली कालकोठरी की ओर उठ रहे थे, जोगेंद्रनाथ ने पुकारा. पास आने पर कलाकार ने पूछा, "किधर जा रहे हो?"

"किधर जा रहा हूं—यह न पूछ कर अगर यह पूछो कि जहांगीरी हुकूमत के अभी कितने दिन और बाक़ी हैं तो ठीक रहेगा," महावतख़ां ने कहा.

"तुम्हारे सोचने का ढंग ग़लत है, महावत. जहांगीरी हुकूमत रहे या खुर्रमी, मुग़ल ख़ानदान की परिपाटी यही रहेगी--लोगों के हक़ में शायद यही अच्छा है." कलाकार ने चित्र में एक व्यक्ति की मूंछों को ज़रा घना किया.

"तुमने जहांगीर के मुक़ाबले खुर्रम ही का नाम क्यों लिया, शहरयार या परवेज़ का क्यों नहीं? और फिर लोगों के हक़ में यही अच्छा क्यों है?" महावतख़ां पास पड़ी हुई चौकी पर बैठ कर दीवान ख़ास के प्रतिबिंब उस बनते हुए चित्र को देखने लगा.

"तुमने वह कहावत सुनी है, महावत: 'जिसकी लाठी उसकी भैंस'? षड्यंत्रों और मेहरबानियों से साम्राज्य नहीं जीते जाते, जब तक उनके पीछे ताक़त न हो. शहरयार और परवेज़ हरमसरा की

मेहरबानियों और व्यक्तिगत षड्यंत्रों के प्रतिरूप हैं, खुर्रम के पास ताक़त है और बेचारा ख़ुसरो--तुम शायद उसी की कुछ ख़ैरख़बर पूछने जा रहे हो?" कलाकार बात करता हुआ तन्मय हो कर एक और व्यक्ति की रेखाएं दीवान ख़ास में अंकित करने लगा.

"ख़ैरख़बर...हूं!" महावतखां ने विवशता से छत की ओर ताका. "तुमने दूसरे सवाल का जवाब नहीं दिया."

"क्या करोगे पूछ कर?" जोगेंद्रनाथ बोले. "लोग कहते हैं कि जब पाप का घड़ा भर जाता है तो फूटता ही है--इतिहास की गति भी यही बताती है. बेचारे शाहंशाह के सामने जब तक पूरी तसवीर खींच कर न रख दी गई, तब तक उसे इन सात समुंदर पार से आने वाले गोरे व्यापारियों से हो सकने वाले नुक़सान का पता ही न चला. कुछ दिनों में जहांगीर शराब में सब कुछ भूल जाएगा. नूरजहां की नाज़ुक उंगलियां उसे थपकी दे कर सुला देंगी. अच्छा है, लोगों को अपनीअपनी भलाई के लिए कुछ करनेधरने की आज़ादी होगी. इसी लिए कहता हूं कि तुम्हारे सोचने का ढंग ग़लत है--जहांगीरी हुकूमत का नहीं, मुझे मुग़लिया सलतनत का पतन नज़दीक नज़र आ रहा है."

जोगेंद्रनाथ ने नूरजहां का नाम लिया था. महावतखां ने आगे की बात शायद नहीं सुनी. वह नूरजहां के ख़्याल में खोयाखोया सा बुदबुदाया, "शैतान औरत!"

"क्या कहा तुमने?" जोगेंद्रनाथ ने चौंक कर पूछा.

"तुम जानते हो मैं ख़ुसरो की ख़ैरख़बर पूछने जा रहा हूं?" महावतखां ने कुछ अद्भुत ढंग से पूछा.

"मालूम तो ऐसा ही देता है," कलाकार ने उसकी ओर प्रश्नसूचक दृष्टि डाली.

महावतखां खड़ा हो गया और सहसा एक भयानक हंसी हंसते हुए बोला, "मैं उस से उसकी सब से अज़ीज़तरीन चीज़ छीनने जा रहा हूं. मैं उसकी आंखें उस से छीनने जा रहा हूं." महावत वहशियों

की तरह बुदबुदाता हुआ जा रहा था, "ये आंखें उसकी मां नूरजहां को दिल बहलाने के लिए तोहफ़े में दी जाएंगी... हा हा हा!"

जोगेंद्रनाथ कूंची रख कर उसे पत्थरों में विलीन होते हुए देखते रहे.

महावतखां ने शाहजादा ख़ुसरो की आंखों में तकुए भोंक दिए. इसके बाद हर समय उसकी आंखों में वही सूरत छाई रहती. ख़ुसरो उसकी ओर सहमी हुई निगाहों से ऐसे देख रहा है जैसे किसी ख़ूंख़्वार दरिंदे को देखा जाता है. ख़ुसरो उसका नाम लेले कर पुकार रहा है मानो उसे जता रहा है कि वह भी एक इनसान है. और ख़ुसरो अपनी आंखें जाती रहने पर पीड़ा से तड़प रहा है. महावतखां अपनी तमाम उमर इस घटना को नहीं भूल सकता क्योंकि यह शैतानी काम उसकी कारगुज़ारी है. उसे याद नहीं कब शाहंशाह ने उसे पंचहज़ारी मनसबदार बना दिया और वह उसके एवज़ बादशाह की ताज़ीम करना भी भूल गया.

जहांगीर की निगाहों ने यह सब देखा. 'यह मामूली आदमी अगर ख़ुसरो का इतना हमदर्द हो सकता है तो मैं तो उसका बाप हूं!' जहांगीर ने फ़ारसी हकीम सादरा को शाहज़ादा ख़ुसरो की आंखें ठीक करने के लिए नियत किया. महावतख़ां के बहके हुए हाथों ने शायद कुछ कमी की थी. कुछ ही महीनों में ख़ुसरो एक आंख से देखने लगा. सादरा को 'मसीहेउज्ज़मां' का ख़िताब अता फ़रमाया गया. हरमसरा की सम्मिलित आवाज़ के सामने नूरजहां की नहीं चली और ख़ुसरो को शाही माफ़ी दी गई. वह दरबार में आता और निराश पागलों की भांति खड़ा हो कर चला जाता. इस दशा में भी आख़िर वह नूरजहां के कोप से न बच सका. उसे आसफ़ख़ां के सुपुर्द किया गया ताकि वह उसे ठीक कर दे. एकपत्नीव्रती यह सुंदर, अभागा और लोकप्रिय शाहज़ादा शाहजहां के हाथों क़त्ल हो कर पेट के दर्द से मरा घोषित

कर दिया गया. ताजमहल के पीछे छिपी शाहजहां की प्रेम भावना और इस स्नेह में यदि कुछ भी समानता है, तो हमें भारत की इस गौरवपूर्ण कृति की ओर तनिक भी अश्रद्धा नहीं होनी चाहिए.

महावतख़ां की इस विवशता के दुख का जो प्रभाव शाही मुसव्विर के ऊपर अलक्ष्य रूप से पड़ा वह एक नया रंग लाया. दीवान ख़ास की वही तसवीर दो वर्ष बाद शाही हुज़ूर में पेश की गई. हरमसरा में नूरजहां की कलापारखी आंखें कला के इस सुंदर नमूने में अंकित एक-एक व्यक्ति की शान को ग़ौर से देख रही थीं. तसवीर मानो स्वयं बोल कर एकएक सरदार का परिचय दे रही थी. इस में दीवान ख़ास पूरी तौर से सजा हुआ दिखाया गया था. एक रोशनदान से सूरज की किरणें मानो चोरी से दीवान ख़ास में आ घुसी थीं. सहसा नूरजहां की दृष्टि अटक गई. सुंदर मुख रोष से तमतमा उठा. चित्र में इन चोर किरणों ने पंचहज़ारी मनसबदार महावतख़ां के मुख के बाएं भाग को असाधारण रूप से चमका दिया था और ऐसा मालूम हो रहा था मानो सब दरबारियों की शान उसके आगे पनाह मांग रही हो. महावतख़ां, परवेज़ का तरफ़दार--दुश्मन! हुक्म हुआ, "शाही मुसव्विर को हाज़िर किया जाए."

ख़वास के साथ वह एक सुंदर महराबदार कमरे में हाज़िर हुए. चिलमन के पीछे मसनद पर बैठी नूरजहां ने लौंडी से पुछवाया, "शाही मुसव्विर ने तसवीर में जो कुछ दिखाया है, क्या वह सब सत्य है या कुछ कल्पना से भी काम लिया गया है?"

जोगेंद्रनाथ ने सरल भाव से उत्तर दिया, "कल्पना और वास्तविकता का मिलन ही कला है. मैंने जो कुछ अपनी आंखों से देखा है वही कला के द्वारा प्रस्तुत किया है."

लौंडी ने इसका अनुवाद कर दिया.

नूरजहां इस उत्तर की गहराई को नहीं समझ सकी, किंतु जो सवाल उसने इसके बाद किया वह सीधी चोट करता था. लौंडी ने

दोहराया, "क्या शाही मुसव्विर की आंखों पर भरोसा किया जा सकता है?"

जोगेंद्रनाथ ने कहा, "मेरी रचना स्वयं इसे बता देगी."

नूरजहां को और ताब न रही. उसने तेज आवाज से पूछा, "क्या शाही मुसव्विर की आंखों पर राजनीतिक रूप से भरोसा किया जा सकता है?"

जोगेंद्रनाथ ने उसी प्रकार शांत स्वर से उत्तर दिया, "राजनीति में अपनी आंखों के अतिरिक्त और किसी की आंखों पर भरोसा नहीं किया जा सकता. राजनीति ईमानदारों के लिए भी दंड की व्यवस्था रखती है."

पीछे से जहांगीर ने कहा, "शाबाश!" और उसकी तालियों की अकेली आवाज महराब में गूंज गई. लौंडी ने जहांपनाह को देख कर ताजीम की और मुसव्विर ने जमीन को चूमा.

तसवीर के लिए बादशाह से इनाम पा कर मुसव्विर बिदा हुआ. किंतु अगले दिन जो दरबार में हुआ यह घटना शायद उसकी पूर्व सूचना थी. नूरजहां का हाथ तसवीर के एक पहलू को पकड़े हुए था और उसका अंगूठा आहिस्ताआहिस्ता महावतखां की उस कलापूर्ण प्रतिकृति को मसल रहा था.

कांटों को तोड़ने के लिए फूलों से छेड़खानी नहीं की जाती. मुसव्विर अपराधी था या नहीं—यह अलग बात है. इसी लिए वह बच गया किंतु अगले दिन दीवान खास में महावतखां अपराधियों के कटघरे में था.

कोतवाल ने वजीर का इशारा पा कर फ़र्द जुर्म पढ़नी शुरू की, "तुम्हारी तरफ़ ग़बन, रिश्वतखोरी इत्यादि बहुत से ऐसे आरोप हैं जो शाही रीतिरिवाजों को हानि पहुंचाते हैं."

महावतखां उपेक्षा से मुसकराया. दो साल पहले की वह घटना उसकी आंखों में घूम गई. उसने शाही चिलमन की ओर नफ़रत की

निगाह से ताका और तख्त पर रौनक़अफ़रोज आलमपनाह से उसकी आंखें मिलीं. उसने कहना शुरू किया:

"शाही रीतिरिवाज . . . हूं!" जहांगीर की आंखों से मिली उसकी आंखें नामालूम तौर पर फड़कीं. "महावतखां ने हमेशा शाही रीतिरिवाज की पाबंदी की है, इसी लिए शाहंशाह हिंद की सरकार को यह शक है कि वह उसकी अवहेलना भी कर सकता है. क्या यह भी फ़रमाए जाने की इनायत होगी कि आज से दो साल पहले के और आज के शाही रीतिरिवाज में कितना परिवर्तन हो गया है? मैं कहता हूं कि पत्थरों से घिरे अंधकार और दीवान-खास की रोशनी के शाही रीतिरिवाज में अगर कोई फ़र्क़ नहीं है, तो महावतखां अपराधी है, महावतखां को सज़ा दी जा सकती है, क्योंकि उसे शाहंशाह हिंद, जहांपनाह, सरकार जहां-गीरी के रहम पर एतबार है. मसीहेउज्ज़मां सादरा अभी ज़िंदा हैं और ज़िंदा है अभी जहांगीरी इनसाफ़." महावतखां इतनी ज़ोर से हंसा कि जहांगीर क्रोध से तमतमा कर खड़ा हो गया. सारा दरबार स्तंभित रह गया.

फ़र्द जुर्म आगे पढ़ी गई, "तुमने बिना शाही इजाज़त के अपनी लड़की की मंगनी ख्वाजा उमर नक़्शबंदी से कर दी है. शाही रुतबा इस बेइज्ज़ती को बरदाश्त नहीं कर सकता. ख्वाजा उमर को हाज़िर किया जाए."

अपने भावी दामाद को हथकड़ियों और बेड़ियों में देख कर महावतखां की आंखों से खून बरसने लगा. कमर से हाथ लगाया जहां तलवार का क़ब्ज़ा नहीं था, लोगों की आंखों में देखा जहां सहानुभूति नहीं थी. उनकी आंखों में शाही रोब उनकी अंतरात्मा को कुचल कर निर्लज्ज उपहास के रूप में फूट पड़ा था.

महावतखां ने अल्लाह को याद करने के लिए आकाश की ओर ताका, लेकिन वहां जहांगीरी फ़ानूस सतरंगी किरणें फेंक रहे थे.

महावतखां से मनसबदारी छीन ली गई और ख्वाजा को क़ैद की

सजा हुई. महावतखां आज फिर सड़क पर खड़ा था—शायद उसका मन कह रहा था:

"तुम्हीं ने इश्क़ दिया और तुम्हीं ने छीन लिया,
मुझे खुशी है कि मैं आज़ाद हूं आज."

कशमीर की बदमस्त फ़िज़ाओं की रंगीनियों से स्वास्थ्यलाभ कर के जहांगीर व नूरजहां लाहौर आए और कुछ दिन बाद क़ाबुल चल दिए.

लंबा कारवां चला जा रहा था. रास्ते में महावतखां के इने-गिने कुशल सिपाही महमिल पर टूट पड़े. शाहंशाह क़ैद हो गए किंतु महमिल खाली था और मलका ग़ायब थी.

एक डेरा शाही मेहमानदारी के लिए खाली कर दिया गया, पहरा लगा दिया गया और झेलम के पुल पर चौकी बैठा दी गई.

पुल के पार आसफ़खां महावतखां की पकड़ से बच कर आई हुई नूरजहां की लानतमलामत सुन कर, एक फ़ौज ले कर महावतखां को सरकूब करने चला. बड़ेबड़े गड्ढे नामालूम तौर पर झेलम के पुल में छिपे थे. पहला दस्ता पहला बलिदान बना. उसे पाट दिया गया.

कितने गड्ढे पाटे गए—इसका पता नहीं लेकिन होनी कुछ और थी. बीच में आ कर पुल चरमराया और टूट गया. नूरजहां का घोड़ा बिदक कर आगे बढ़ा और उसकी रास महावतखां के हाथों में आ गई.

उसे जहांगीर के पास रखा गया.

यहां मय नहीं थी, जाम नहीं थे. नूरजहां की शायरी हवा हो गई थी; उसका दिमाग़ निकल भागने के मनसूबे बांधने लगा.

महावतखां क़ैदियों का निरीक्षण कर रहा था. जहांगीर के स्वास्थ्यसुधार के आवश्यक सामानों में शाही मुसव्विर जोगेंद्रनाथ भी थे. महावतखां उन्हें देखते ही उन से उल्लास के मारे चिपट गया.

सिपाहियों ने यह देखते ही उन्हें मुक्त कर दिया.

झेलम की तराई की घास पर बैठे जोगेंद्रनाथ न महावतख़ां से कहा, "आख़िर तुम बचपना कर ही गए."

"क्यों?" महावतख़ां ने पूछा. "आज शाहंशाह को पता चलेगा कि तक़दीर ही सब कुछ नहीं होती—विरोधी हवाओं की शक्ति भी कुछ अस्तित्व रखती है."

जोगेंद्रनाथ मुसकराए. "तुम्हारे सोचने का ढंग नहीं बदलेगा, महावत. अक्खड़पना हर जगह काम नहीं देता. ज़रा पूछूं, ख़्वाजा उमर का क्या होगा जिसे लड़की देनी कर चुके हो?"

महावतख़ां ने कहा, "हुकूमत बदलेगी, बादशाह बदलेगा, क़ैदख़ानों के दरवाज़े खुल जाएंगे."

जोगेंद्रनाथ बोले, "कितना हसीन ख़्याल है! क़ैदख़ाने सामाजिक व्यवस्था बदलने पर खुलते हैं. हुकूमत बदलने पर क़ैदख़ाने खुलते नहीं, नए सिरे से और भरे जाते हैं. शाहंशाह को क़त्ल कर के परवेज़ तख़्त पर नहीं बैठेगा, शाहजहां दक्खिन से आएगा और आगरे पर छा जाएगा. परवेज़ को गयागुज़रा समझ कर माफ़ कर दिया जाएगा और महावत को शाहंशाह हिंद के क़ातिल की सूरत में कटघरे में खड़ा कर के सूली का हुक्म होगा."

महावतख़ां घबरा कर बोला, "अब?"

तभी पहरेदार ने ख़बर दी, "क़ैदी जहांगीर हुज़ूर की क़दम-बोसी चाहता है."

महावतख़ां ने पीनस भेज दी.

परदे डाली हुई पीनस ख़ेमे के अंदर रख कर पहरेदार बाहर खड़े रहे. थोड़ी देर में अंदर से आवाज़ आई, "इजाज़त है!" पहरेदार पीनस उठा कर तेज़ी से महावतख़ां के ख़ेमे की ओर चले.

वह बाद में मालूम हुआ कि पीनस ख़ाली थी. उस में इधर-उधर का सामान भर कर नूरजहां और जहांगीर पहरेदारों के दूर होते

ही खेमे का पिछला हिस्सा खोल कर अंधकार म विलीन हो गए थ.

ऊंची पहाड़ी पर खड़े हुए महावतखां ने नीचे तलहटी में बेतहाशा और बेहाल भागते एक मानवी जोड़े की ओर देखते हुए कहा, "यही वे हस्तियां हैं जिन्हें कुछ गुमान है, कुछ ग़लतफ़हमियां हैं."

कलाकार ने कहा, "ये वे हस्तियां हैं जो वर्त्तमान हिंदुस्तानी व्यवस्था का प्रतिनिधित्व करती हैं."

कुछ दिन बाद शाही मुसव्विर जोगेंद्रनाथ ने एक और तसवीर दीवान खास में रौनक़अफ़रोज शाहंशाह जहांगीर के सामने पेश की. उसे जहांगीर के हाथों में सौंपने से पहले कलाकार ने कहा, "गुस्ताखी माफ़ हो, मैं समझता हूं कि कला जितनी ही स्वतंत्र होगी उतना ही ज्यादा वह वास्तविकता का सही चित्रण कर सकेगी. अगर जहांपनाह फ़न को यह आजादी बख़्शें, तो इस तसवीर को शौक़ से देखें."

"हमें मंजूर है," जहांगीर ने कहा. किंतु तसवीर को खोल कर देखते ही वह आश्चर्य से लगभग चीख़ उठा, "यह क्या!"

मुसव्विर ने झुक कर कहा, "यह कला है; और कला कल्पना और वास्तविकता का मिलन है."

जहांगीर कितनी ही देर तक उस तसवीर को लिए पत्थर की मूर्त्ति की तरह बैठा रहा. सिर उठाते ही उसने ख़्वाजा उमर नक़्शबंदी को रिहाई का हुक्म दिया.

तसवीर में दो व्यक्ति जिन में से एक निश्चय ही महावतखां था, एक पहाड़ी पर खड़े थे और नीचे तलहटी में दो स्त्रीपुरुष बेतहाशा, बेहाल, सहमे हुए भागे जा रहे थे.

जहांगीर व नूरजहां की महावत की क़ैद से रिहाई उनकी चतुरता के कारण नहीं, बल्कि महावत की कृपा पर निर्भर थी—लज्जा की इस भावना ने जहांगीर को विचलित कर दिया था और ख़्वाजा की रिहाई का हुक्म इसके परिमार्जन का एक असफल प्रयत्न था.

अगली रात घोड़ों पर बैठे महावत और ख्वाजा को बिदा करते हुए जोगेंद्रनाथ ने कहा, "काश कि तुम व्यवस्था और बादशाह के बीच का भेद समझ पाते."

महावतखां ने हंस कर कहा, "मुझे इतिहास नहीं बदलना है, सिर्फ़ बादशाह बदलना है." घोड़े एक झटका खा कर आगे बढ़े और शाहजहां से मिलने के लिए दक्खिन की ओर कूच कर गए.

पीछे खड़े जोगेंद्रनाथ कितनी ही देर तक दोनों आकृतियों को अंधकार में विलीन होते हुए देखते रहे. ✦✦

जलता प्रश्न

के. प्रदीप

श्री के. प्रोदीप (कुमार प्रदीप) का जन्म जबलपुर में सन १९२३ में हुआ था. बाद में आप लाहौर चले गए और वहीं आपकी शिक्षादीक्षा हुई. उसके बाद आप वहीं व्यापार करने लगे. १९४७ में भारत का विभाजन होने पर आप लाहौर छोड़ कर दिल्ली आ गए.

कहानियां लिखने का चाव आपको आठवीं कक्षा से ही आरंभ हो गया था. आपकी प्रथम कहानी 'विवाह की बात' सन १९३७ में प्रकाशित हुई थी. तब से अब तक आपकी लगभग पौने दो सौ कहानियां प्रकाशित हो चुकी हैं.

अदालत का कमरा खचाखच भरा था. लोगों की उत्सुक आंखें अभियुक्त के चेहरे पर थीं. सरकारी वकील ने कटघरे के निकट आ कर युवक से पूछा, "तुम्हारा नाम?"

"प्रभुशंकर."

"पिता का नाम?"

"दयाकिशन."

"तुम जानते हो कि तुमने खून किया है, और हत्या करने के बाद पुलिस के सामने उसे स्वीकार भी किया. तुमने वह कुल्हाड़ी भी थाने में जमा की, जिस से ताजा खून टपक रहा था. क्या तुम उस वक़्त यह नहीं जानते थे कि खून की सजा मौत होती है? उसे स्वीकार कर लेने से गुनाह कम नहीं हो जाता और न ही सजा कम होती है?"

"मैं जानता हूं, लेकिन मैं अपने अपराध को कम करने या सजा को नरम कराने के विचार से पुलिस थाने नहीं गया था."

"क्या तुम्हें अपन जीवन का मोह नहीं था? क्या तुम्हारे आगे उसका कोई मूल्य नहीं था?"

"मुझे जीवन से अब कोई मोह नहीं है. न अब उसका कोई मूल्य ही मेरी दृष्टि में रह गया है. जिंदा रहना मेरे लिए एक बीहड़ रास्ता तय करना है. एक ऐसे रेगिस्तान से गुजरना है जहां न पानी है, न खाना है, न छांह है और न ही कोई संगीसाथी है. उस तप्त रेत में पागलों की भांति भटकना मैं नहीं चाहता. यदि मैं बचना चाहता तो अपने को छिपा सकता था. लेकिन मैं एक पाप के बदले दूसरा पाप नहीं करना चाहता था, इसलिए मैंने चुपचाप अपराध स्वीकार कर लिया. मैं चाहता तो ताई की हत्या करने के बाद आत्म-हत्या कर लेता. किंतु तब मेरा काम अधूरा रह जाता, और मैं

एक भीषण पाप और कलंक का बोझ लिए विलीन हो जाता. तब भला दुनिया मेरे अपराध की गहराई क्या जानती!"

अदालत में एकदम सन्नाटा छा गया. युवक जो कुछ कह रहा था अभूतपूर्व था. लेकिन फिर भी दर्शकों के हृदय में एक अनजानी घृणा का भाव भरता जा रहा था कि कितना धूर्त और धृष्ट है कि अपनी ताई की हत्या कर के भी डींग मारता है! लेकिन फिर भी प्रभुशंकर की प्रभावपूर्ण वाणी और सुस्थिर स्वर उनके मानस पर विचित्र प्रभाव डाल रहे थे. वे अत्यंत उत्सुक चेहरे से उसे निहार रहे थे कि वह अपना रहस्य प्रकट करे.

वकील ने अपने काले चोग़े का पल्ला हिलाते हुए कहा, "तुम चाहो तो अब भी बरी हो सकते हो. तुम कह दो कि तुमने ख़ून नहीं किया. बाक़ी काम मेरा है."

प्रभुशंकर हंसा. उसने कहा, "वकील साहब, मुझे माफ़ करें. आपने जिसका मेहनताना लिया है उसकी पैरवी पूरी तरह से की है. लेकिन मैं अपने अपराध के प्रति पूर्ण रूप से जागरूक हूं और उसकी सज़ा पाने के लिए उत्सुक हूं. मैं कैसे कह दूं कि मैं बेगुनाह हूं!"

यह युवक तो एक उलझी हुई पहेली बनता जा रहा है. ज्यों-ज्यों वह व्यक्त हो रहा है, त्योंत्यों जटिल होता जा रहा है.

वकील ने पूछा, "प्रभुशंकर, तुम अपनी सफ़ाई में कुछ कहना चाहते हो?"

प्रभुशंकर ने कटघरे की रेलिंग पकड़ कर कहा, "मैं अदालत के सामने बहुत कुछ कहना चाहता हूं. पर वह मेरी सफ़ाई नहीं होगी. वह इस देश की जलती हुई कहानी है. मैं माननीय जज से प्रार्थना करूंगा कि मैं जो कुछ कहना चाहता हूं, स्वतंत्रतापूर्वक कह सकूं और मुझे बीच में न रोका जाए. मैं यह भी कह देना चाहता हूं कि मेरी कहानी सुन कर आप मुझ पर दया कर के मेरी सज़ा में कमी न करें. मैं मौत से कम कोई सज़ा नहीं चाहता. मेरे लिए इस दुनिया में स्थान

नहीं हूं. मैं अपने जघन्य अपराध का प्रायश्चित्त, अगर हो सका, कठोर मृत्यु यातना पा कर ही कर सकता हूं."

क्षण भर अदालत में निस्तब्धता रही और जज साहब गंभीर चिंतन में डूबे रहे. फिर उन्होंने कहा, "युवक, जो प्रार्थना तुमने इस अदालत के सामने की है, क़ानूनन तो मैं उसकी आज्ञा नहीं दे सकता; फिर भी अपनी व्यक्तिगत जिम्मेदारी पर आज्ञा देता हूं कि तुम जो कुछ कहना चाहो, बिना झिझके कह डालो. अदालत तुम्हारे बयान में बाधक नहीं होगी. लेकिन वह अदालत के क़ानूनों के विरुद्ध न जाए और न अदालत के प्रति किसी को उत्तेजित करे."

प्रभुशंकर बोला, "मेरी कहानी अदालत और उसके क़ायदेक़ानूनों के विरुद्ध नहीं जाएगी. वह तो हमारे समाज के एक अंग की जलती हुई कहानी है, जिसका धुआं इतना गहरा हो उठा है कि दम घुटने लगा है. फिर भी हमारा दक़ियानूसी समाज आंखें बंद किए पड़ा है."

जज ने आज्ञा दी, "तुम कह सकते हो."

प्रभुशंकर क्षण भर खड़ा रहा, फिर बोला :

मैं आज जो कहानी सुनाने आया हूं, वह पुरुषों से सताई गई, तरसाई गई उस अभागी नारी की चिरपुरातन कहानी है, जो बारबार कहने पर भी नई है; भारत की उन करोड़ों विधवाओं की कहानी है, जिन्हें समाज ने निर्वासित कर दिया है, जिन्हें समाज का एक दूषित अंग समझ कर फेंक दिया गया है. लेकिन अंधा हिंदू समाज यह नहीं जानता कि उसकी कमर टूट गई है. उस पर ऐसा कुठाराघात हुआ है कि वह धीरेधीरे पतन की ओर जा रहा है, और यदि ऐसा ही रहा तो वह दिन दूर नहीं जब हिंदू समाज को अपना समस्त बल समेट कर पेट के बल जमीन पर रेंगना पड़ेगा. लेकिन आखिर कब तक? एक दिन तो उसकी शक्ति समाप्त हो ही जाएगी.

थोड़ी देर रुक कर प्रभुशंकर ने फिर कहना शुरू किया :

जब मेरा जन्म हुआ तो ताई ने मुझे गोदी में ले कर मेरी मां से कहा, "छोटी, इसे तो मैं पालूंगी."

मां ने कहा, "जीजी, मैं कब इसे मांगती हूं—यह तुम्हारा ही है."

मैं अपनी ताई की सुखद गोदी में पलने लगा और उनकी छत्र-छाया में बढ़ने लगा. उनके उस प्यार में कभी कमी नहीं आई. मैंने कभी यह अनुभव नहीं किया कि ताई मेरी मां नहीं हैं या वह मुझे पुत्र-वत प्यार नहीं करतीं. मां को तो मैंने पहचाना भी नहीं था. मैं उन्हें अपनी चाची ही समझता था.

हमारा घराना पुराना धार्मिक हिंदू संयुक्त परिवार था. उस में छुआछूत से ले कर पूजापाठ तक की पूरी व्यवस्था थी. ताऊजी परिवार के प्रमुख थे, और घर में ताई का राज्य था. मैं नन्हा सा बालक उनके लिए खिलौना बन गया था. वह मुझे बड़े प्यार से खिलाया करते थे.

अगर कभी ताऊजी भूल से रमा दादा के लिए कोई चीज ले आते थे तो ताई बिगड़ कर कहतीं, "रमा ही तो तुम्हारा सगा है—बाबू तो पराया है. लेकिन मैं भला बाबू को कैसे पराया समझ सकती हूं!"

मां कहतीं, "जीजी, तुम तो दादाजी से बेकार झगड़ पड़ती हो. बाबू को इतना सिर चढ़ा रही हो कि किसी की बात ही नहीं सुनता. ज्यादा लाड़प्यार करोगी तो बिगड़ जाएगा."

ताई कहतीं, "तुझे क्यों बुरा लगता है? बिगड़ेगा तो, सुधरेगा तो—है तो मेरा लड़का. बच्चे बिगड़ते ही हैं, तो क्या इसलिए उन्हें प्यार करना छोड़ दिया जाए?"

इसी भांति हंसीखुशी और आमोदप्रमोद के बीच हमारा जीवन अबाध रूप से बहा चला जा रहा था कि ताऊजी की मृत्यु हो गई. घर घर शोक के बादल छा गए. लेकिन ताई बड़ी धैर्य वाली थीं. उन्होंने

हमें गोदी में ले कर आंसू पोंछ लिए. बोलीं, "वह चले गए तो मैं बे-सहारा नहीं हो गई हूं. मेरे दोनों लाल जीते रहें--फिर मुझे किस बात की चिंता!"

रमा दादा और मुझ में असीम प्रेम था. हालांकि मैं उन से पांच वर्ष छोटा था फिर भी वह मुझे भाई के अतिरिक्त अपना अंतरंग मित्र भी समझते थे; मैं ही उनके हृदय के कोमल उतारचढ़ाव का साक्षी होता था. वह मुझ से कुछ न छिपाते थे.

रमा दादा कुछ विद्रोही विचारों के थे. धार्मिक मामलों में उनके कुछ विचित्र ख्याल थे. परंपरा को पीटना वह निहायत बेवक़ूफ़ी समझते थे. हमें कपड़े उतार कर रसोई में खाना पड़ता था. दादा को यह पसंद नहीं था. वह बाग़ी हो गए. मैं ताई से डरता तो जरूर था पर दादा के विरुद्ध जाने का तो स्वप्न में भी विचार नहीं कर सकता था. ताई नाराज हुईं. पर आखिर करतीं क्या--अपनी निष्ठा देखतीं या बच्चों का प्यार? बच्चों के प्यार ने विजय पाई किंतु ताई के हृदय को इस से बहुत ठेस लगी. फिर भी वह चुप रहीं.

मां ने कहा, "मैं कहती न थी, जीजी, ज्यादा सिर न चढ़ाओ."

ताई कहतीं, "तू कोई बात समझती तो है नहीं, छोटी. कपड़े पहन कर खाने में कोई धर्म थोड़े ही चला जाता है. और तू तो जानती ही है कि आजकल की पढ़ाई विदेशी है, फिर इस में बच्चों का क्या दोष?"

रमा दादा के बड़ेबड़े ध्येय थे. वह सुधारवादी और आजाद ख्यालों के थे. वह कहते कि हम दोनों यहां की शिक्षा समाप्त करने के बाद अमेरिका चलेंगे. वहां उच्च सामाजिक शिक्षा लेंगे. तब भारत में अपने घिसेपिटे दक़ियानूसी समाज की कायापलट करेंगे. हम एक नए हिंदुस्तान का निर्माण करेंगे. तब हमारे उस हिंदुस्तान में विधवाएं, वेश्याएं, भिखारी, ढोंगी साधुसंत और अनाथ नहीं होंगे. चारों ओर सुखऐश्वर्य की वर्षा होगी. इस सूखी धरती पर फिर दूध की धारा

बढ़ेगी और सामाजिक, धार्मिक तथा राजनीतिक कार्यों में नारी हमारे हमक़दम होगी, उसकी दुनिया रसोईघर तक ही सीमित नहीं रहेगी. और भारत तब फिर एक बार संसार का शिरोमणि होगा. सभ्यता और संस्कृति का अग्रदूत होगा. हम तब दुनिया को शांति तथा भ्रातृत्व का पाठ पढ़ाएंगे. तब यही दुनिया स्वर्ग होगी.

दादा के सपने इतने सजीव थे कि मैं रोमांचित हो उठता.

पिताजी एक लड़की देख आए थे. वह सभी को पसंद थी. नाकनक़्शे में ही नहीं, गृहकार्य और पढ़नेलिखने में भी वह बहुत चतुर थी. फिर क्या था—धूमधाम से विवाह की तैयारियां होने लगीं. सारा घर आनंद से गूंज उठा.

और आख़िर वह दिन भी आया जब दादा दूल्हा बन कर घोड़ी पर बैठे.

इस विवाहोत्सव के मध्य मेरे आनंद का कोई पारावार न था. मुझे एक सुंदर सी भाभी पाने की बड़ी लालसा थी जो मुझे भी ख़ूब प्यार कर सके. दादा से तो फ़ैसला हो ही चुका था कि अगर भाभी मुझे प्यार करें तो वह ईर्ष्या नहीं करेंगे.

इस पर दादा मेरी पीठ थपथपा कर कहते, "अरे पगले, मैं भला तेरे और तेरी भाभी के प्यार के बीच बाधक क्यों बनूंगा? मैं क्यों ईर्ष्या करूंगा! भाभी पर तो देवर का आधा हक़ होता है. मैं तुझे अभी से उस आधे हक़ का उत्तराधिकारी बना देता हूं."

मैं मुसकरा देता. दादा खिल उठते.

भाभी की अवस्था पंदरह वर्ष के लगभग थी. नाम उनका संतोष था. मझोला क़द और इकहरा शरीर. इस कारण वह छोटी सी गुड़िया लगती थीं. रंग गोरा और चेहरा गोल, जिस पर सदैव लालिमा छाई रहती थी. उनकी दो चीज़ें मुझे विशेष आकर्षक लगीं—बड़ीबड़ी आंखें और लंबे सघन केश.

मुंहदिखाई पर सभी ने कुछ-न-कुछ भेंट दी. मैं भी चाहता था

कि कुछ भेंट दूं और भाभी के दर्शन करूं. किंतु भेंट क्या दूं? अचानक मुझे एक युक्ति सूझी. मैंने एक लड्डू हाथ में छिपा लिया और भाभी का घूंघट उठा कर बोला, "सबने तो तरहतरह की चीजें भेंट दीं, लेकिन मैं सब से अजीब चीज दूंगा. अच्छा, भाभी, जरा मुंह तो खोलो."

लेकिन भाभी शरमा रही थीं, आंखों पर पलकें झुकी थीं और चेहरे पर शरीर का सारा रक्त इकट्ठा हो गया था. वह छुटकारा चाहती थीं, लेकिन देवर से छुटकारा कहां! उन्होंने मुंह न खोला.

मैंने कहा, "अगर मुंह न खोलोगी तो सच कहता हूं, भाभी, गुदगुदा दूंगा."

मेरी धमकी चल गई, गुदगुदाने के डर से उन्होंने चट मुंह खोल दिया और मैंने लड्डू उनके मुंह में ठूंस दिया. बस, फिर क्या था— हंसी का फुहारा छूट गया. भाभी लड्डू निकालने लगीं. मैंने कहा, "नहीं, खाना होगा. वरना मैं घूंघट नहीं छोड़ूंगा."

क्या करतीं बेचारी—बड़े कड़े देवर से पाला पड़ा था. छुटकारे की कोई सूरत न देख चुपचाप लड्डू खा गईं.

मैंने पूछा, "मीठा था?"

उन्होंने लज्जा से भारी पलकों को उठा कर मुझे देखा, फिर पलकें गिरा कर हौले से बोलीं, "हां." मैं निहाल हो गया.

रमा दादा इधरउधर छटपटाते फिरते थे कि किसी भांति एक झलक पा जाएं. मुझ से बोले, "क्यों, बाबू, कैसी है तेरी भाभी?"

"क्यों बताऊं?"

"न बता, मैं तुझे अमेरिका नहीं ले चलूंगा अपने साथ," उन्होंने रोब दिया.

"ओह, यह रोब! रोब दिखा कर मुझ से कुछ नहीं पूछ सकते, रमा दादा."

मुझे अकड़ता देख दादा खुशामद करने लगे. आखिर मुझे

पिघलना पड़ा. तब मैं भाभी की तारीफ़ों के पुल बांधने लगा. सुन कर दादा मुसकराए. बोले, "तू तो सोलहों आने उनका भक्त हो गया है."

मैंने गर्व से कहा, "कच्चा प्रेमी नहीं हूं."

भाभी को उनके घर पर सब संतो कह कर पुकारते थे. यह छोटा सा नाम मुझे बहुत ही प्यारा लगता था. मैंने एक दिन पूछा, "क्यों, भाभी, अगर तुम्हें संतो भाभी कहा करूं तो कैसा रहे?"

वह शरमाईं. बोलीं, "मुझे यह भाभी बहुत बुरा लगता है. और फिर मैं उमर में तुम से छोटी भी हूं, भाभी सुन कर शरम आती है. तुम सिर्फ़ संतो ही कहा करो."

"यह भी कभी हो सकता है? उमर में छोटी हो तो क्या हुआ, रिश्ते में तो बड़ी हो."

"इस से क्या!"

भाभी से मेरा बहुत स्नेह हो गया था. हमारे और उनके बीच शरम तथा झिझक का परदा धीरेधीरे उठ रहा था. हम अकसर अपने कमरे में बैठ कर घंटों गप्पें मारते और अपने पिछले जीवन की मनोरंजक बातें एकदूसरे को सुनाते. लेकिन जब दादा आ जाते तो भाभी शरमा जातीं और घूंघट मार कर चली जातीं.

दादा कहते, "हम ही बदनसीब हैं."

मैं कहता, "तुमने मेरा भी मजा किरकिरा कर दिया. क्या मजेदार क़िस्सा चल रहा था."

हमारे घर की यह पहली बहूरानी थीं, इसलिए उनके लाड़प्यार की कोई हद न थी. कोई उन्हें काम में हाथ नहीं लगाने देता था.

भाभी कहतीं, "चाचीजी, अगर इस तरह मुझे काम न करने दोगी तो मैं आलसी हो जाऊंगी. फिर मुझ से कोई काम न होगा. मेरी आदत बिगड़ जाएगी."

मां कहतीं, "साससुसर के राज में भी अगर बहू ने आराम न

किया तो कब करेगी? जब बालबच्चे सामने आएंगे और साससुर बूढ़े हो जाएंगे, तब तो तुझे दम मारने की भी फ़ुरसत न होगी. काम करते-करते परेशान हो जाएगी."

भाभी शरमा जातीं.

ताई हमेशा भाभी को बहू कह कर ही पुकारा करतीं. इस से भाभी लाज से लाल हो उठतीं. कहतीं, "अम्माजी, मुझे बहू न कहा करें. बड़ी लाज लगती है. मेरा नाम संतोष है. और नाम रखा ही इसलिए जाता है कि लिया जाए."

ताई कहतीं, "मैं तो लेती नहीं अपनी लाड़ली बहू का नाम."

भाभी के आगमन ने हमारे घर को एक छोटे से स्वर्ग में परिणत कर दिया था, जिस में हम सब इस तरह मग्न रहते मानो इसके बाहर दुनिया है ही नहीं. पाज़ेब पहन कर भाभी आंगन में आनंद बरसातीं और मां व ताई की छाती फूल कर गज भर की हो जाती. गोरीगोरी एड़ियों पर लाल महावर उषा का आभास देता. नन्हीनन्ही उंगलियों में मीने के हलके बिछुए अजीब छटा बिखेरते. प्रशस्त भाल की चमकीली बिंदिया आकाश का पूर्णेंदु लगती. भला ऐसी सोने सी बहू पा कर किस सास की छाती गर्व से न फूलेगी!

मेरा और भाभी का स्नेह तो अब सबकी चर्चा का विषय बन गया था. वह अकसर मेरे उलझे बालों में अपनी कोमल उंगलियां फंसा कर सहलातीं और मैं असीम सुख में डूब जाता.

प्रेम का नया पाठ पढ़ा कर भाभी एक मास बाद मायके लौट गईं. एक महीने में ही वह इतनी घुलमिल गई थीं कि सभी को आश्चर्य होता. उनका जाना भी जरूरी था क्योंकि हमारे रीतिरिवाज ही ऐसे हैं. उन रीतिरिवाजों पर क्रोध तो आता किंतु फिर यह सोचता कि जिस घर में उन्होंने जन्म लिया, पलीं--उस से एकदम कैसे नाता तोड़ा जा सकता है? वहां भी तो उत्सुक आंखें, ममतापूर्ण बांहें उनकी प्रतीक्षा कर रही होंगी. केवल हमारा ही तो उन पर अधिकार नहीं है. एक साल बाद उनका

गौना होना था. ओह, कितना लंबा समय!

वियोग की कोई परिभाषा नहीं है. कितना ही निर्लिप्त व्यक्ति क्यों न हो, अपने प्रियजन के क्षणिक वियोग पर भी वह एकबारगी सूनापन अनुभव कर उठता है--उसे चाहे भावुकता कह लो या कुछ और. चारों ओर शून्य सा नज़र आता है. लेकिन प्रेमियों का वियोग तो और भी तीव्र होता है.

रमा दादा भाभी के जाने के बाद कुछ खोएखोए से रहने लगे और मुझे भी घरबाहर कुछ अच्छा न लगता था. जब हम सोचते कि भाभी एक साल बाद आएंगी तो हमारा मन और भी टूट जाता.

संध्या को जब मैं घर वापस आया तो दादा खिड़की के आगे कुरसी डाले डूबते सूर्य का दृश्य देखने में तन्मय थे. उनके हाथ में कालिदास का 'मेघदूत' था. मैंने पूछा, "कवि बनने का विचार है क्या, दादा?"

दादा थोड़ा हंसे. बोले, "पगले, प्रेम और विरह आदमी को स्वयं ही कवि बना देते हैं. कविता अनजाने बह उठती है. और यह कालिदास का 'मेघदूत'! कालिदास ने अपने वियोग का सजीव वर्णन किया है. इस से कल्पना को चेतना मिलती है. मैं भी वियोग में एक महाकाव्य लिखना चाहता हूं."

मैं बोला, "भला वियोग इतना तीव्र क्यों हो उठा है, जिसकी वेदना आपके हृदय को दुख से भर रही है? दुख तो क्षणिक है."

दादा फिर मुसकराए. बोले, "पगले, सुख क्षणिक है, दुख अनंत. दुख चिरपुरातन सत्य है और सुख मृगतृष्णा."

मैं समझ न पाया कि दादा के हृदय में आज ऐसी वेदना क्यों जागी.

इसी तरह तीन महीने बीत गए. एक दिन रात को घर आ कर दादा चारपाई पर पड़ गए. सिर में दर्द और तेज़ बुखार था.

सब परेशान हो उठे. मामूली बीमारी समझ कर इलाज शुरू किया. किंतु हमारा विचार ग़लत निकला. आसार टाइफ़ाइड के थे.

दादा दिन-पर-दिन कमजोर होते जा रहे थे और चिंतित रहते. मैं जानता था कि वह भाभी के लिए चिंतित रहते हैं. कभीकभी वह हिम्मत तोड़ देते. ससुराल में उनकी बीमारी की ख़बर सुन कर साले साहब उन्हें देखने आए. उनके आने पर यह तय हुआ कि भाभी को बुला लिया जाए.

भाभी जब आईं तो दादा के बुख़ार का इक्कीसवां दिन था. वह बेहद कमजोर हो गए थे. उनकी आंखें गढ़े में धंस गई थीं. उनको देख भाभी अपनी रुलाई न रोक सकीं और एकांत में ख़ूब रोईं.

वह प्राणपण से दादा की सेवा में जुट गईं. अकसर कहतीं, "भगवान, इनकी जगह मुझे बीमार कर दे. इनकी तकलीफ़ मुझ से नहीं देखी जाती." दादा की सेवा का सारा भार उन्होंने अपने ऊपर ले लिया था. मुझे एक तरह से छुट्टी दे दी थी. स्त्री का अस्तित्व पति ही तो है. कैसा यह विधान है कि नारी को बिलकुल ही पुरुष के अधीन कर दिया जाता है! पुरुष से पृथक मानो नारी कुछ है ही नहीं. मिट्टी की मूर्ति रह जाती है—निष्प्राण, निर्भाव.

लेकिन उनकी सेवा से भी दादा की बीमारी कुछ कम होती नजर नहीं आती थी. उनकी हालत दिन-पर-दिन गिरती जा रही थी. भाभी को खानापीना, आराम—कुछ न सुहाता था. उनकी यह दशा देख कर हम और भी परेशान होते. कठोर परिश्रम और निरंतर जागरण से वह क्लांत और कमजोर हो गई थीं तथा मुरझा गई थीं. सब कहते कि तू अपना शरीर इस भांति क्यों झुलसा रही है.

किंतु उनकी मूक आंखें यही जवाब देतीं कि इस शरीर का और उपयोग हो ही क्या सकता है! यदि यह पति की सेवा में निःशेष भी हो जाए तो इस से अधिक मेरा और क्या सौभाग्य हो सकता है!

लेकिन एक दिन मैंने क़सम खिला कर उन्हें जबरदस्ती छुट्टी दे

दी. यदि वह आराम न करेंगी तो बीमार हो जाएंगी और तब दादा की शुश्रूषा कौन करेगा? वह भी थकी हुई थीं. मान गईं. लेटते ही गहरी नींद में सो गईं.

रात का दूसरा पहर खिसक रहा था और बाहर, भीतर—सब जगह शांति थी. खुली खिड़की से आकाश में बिखरे तारे दिखाई दे रहे थे. दादा ख़ामोशी से उन्हें देख रहे थे.

थोड़ी देर बाद दादा ने दीर्घ निःश्वास ले कर क्षण भर मेरी ओर देखने के बाद कहा, "बाबू, मुझे अब साफ़ दिखाई दे रहा है कि मैं बचूंगा नहीं."

"तुम तो एकदम हिम्मत तोड़ बैठते हो, दादा. अभी ऐसा हुआ ही क्या है! दिल इतना कच्चा न करो."

"तेरा कहना ठीक है, बाबू. लेकिन मेरी अंतरात्मा कहती है कि अब मेरे जीवन दीप में स्नेह नहीं रहा. वह बुझने ही वाला है. अब व्यर्थ के मोह में फंसे रहना मूर्खता है. सुन, बाबू, मैं जानता हूं कि तू अपने दादा को खोने के विचार मात्र को भी प्रश्रय नहीं दे सकता. लेकिन जो सत्य है वह प्रकट होगा ही."

"दादा, इस शरीर का कणकण दे कर भी यदि मैं तुम्हें चिंता-मुक्त कर सकूं तो धन्य हो जाऊंगा."

"भावना में बह जाना घातक हो जाता है, बाबू. इसलिए मेरी बात सुन कर, उसे हृदय की गहराई में उतार कर जवाब देना. मैं बचूंगा नहीं इसका मुझे क़तई दुख नहीं है, क्योंकि जन्ममरण तो सनातन सत्य हैं. लेकिन मुझे दुख है संतो का. मेरी मृत्यु के बाद उसके जीवन में अंधेरा हो जाएगा. अभी उसने जीवन को, दुनिया को पहचानना भी नहीं सीखा है. मेरे बाद वह किस मोह के बल पर जीवन बिताएगी? और ऐसी कच्ची उमर में विधवा हो कर उसकी क्या दुर्दशा होगी—इसकी कल्पना तू बख़ूबी कर सकता है."

इतना बोलने के कारण वह थक गए थे, इसलिए चुप हो गए.

में उनके अंतर की वेदना का आभास पा कर सिहर रहा था. संतो की विधवा रूप में कल्पना भी हृदयविदारक थी. किंतु क्या यह सब सत्य होने जा रहा है?

"मैं चाहता हूं, बाबू, मेरे बाद तू उसका भार ले. उसकी देख-भाल कर. उसे मेरी कमी का अनुभव न होने दे. तभी मैं सुख से मर सकूंगा. इस दुख से तू ही मुझे छुटकारा दिलवा सकता है, बाबू."

मैंने दादा का हाथ पकड़ कर कहा, "तुम चिंता क्यों करते हो, दादा? उनकी देखभाल मैं न करूंगा तो और कौन करेगा? जितनी प्रिय वह तुम्हें हैं, उस से कहीं अधिक मुझे हैं. मैं उनका जीवन विषमय नहीं बनने दूंगा—इसका मैं विश्वास दिलाता हूं."

क्षण भर दादा मेरी ओर देखते रहे मानो मेरे कथन की गह-राई नाप रहे हों. फिर बोले, "इसका मुझे विश्वास है. लेकिन एक बोझ की तरह उसे तुझ पर नहीं छोड़ना चाहता. मैं चाहता हूं कि मेरे बाद तू उसे पत्नी रूप में अपनाए. पति का प्यार और पत्नीत्व के पूरे अधिकार दे. एक नारी के लिए दुनिया में इस से अधिक और कौन सा सुख हो सकता है. मैं जानता हूं कि इस से समाज और घर के विरुद्ध तुझे विद्रोह करना पड़ेगा. लेकिन तू निडर है."

मैं एकदम स्तंभित रह गया. इस बात की तो मैंने कल्पना भी नहीं की थी. बोला, "दादा..."

लेकिन उन्होंने मुझे आगे न बोलने दिया. वह स्वयं कहते गए, "जानता हूं, बाबू, संस्कारवश तुझे यह बात पाप लगेगी. लेकिन यह पाप नहीं है. डूबते हुए को सहारा देने से बड़ा और कौन सा पुण्य हो सकता है? एक अबला की रक्षा करना, जबकि समाज का दानव उसे अग्नि में बलात झोंकना चाहता हो, क्या पाप है? मेरे मर जाने के बाद वह क्यों विधवा हो जाएगी? उस में कौन सा शारीरिक या मानसिक परिवर्तन हो जाएगा जो वह संसार के सुखों से वंचित कर दी जाए? सोच तो, बाबू, क्या वह एक उत्तम माता, ममतामयी पत्नी और चतुर

गृहिणी बनने के अयोग्य हो जाएगी? फिर तुझे क्या एतराज हो सकता है, बाबू? वह मेरी पत्नी रह चुकी है, इसलिए तेरे लिए त्याज्य है? तू किस चिंता में पड़ गया, बाबू?"

मेरे हृदय में भीषण द्वंद्व हो रहा था. दादा की एकएक बात मेरे हृदय में गहरी लकीर खींच रही थी. मेरे मुरदा संस्कारों की दीवारें खिसक रही थीं. क्या यह सचमुच पाप होगा? नहीं, नहीं, समाज अपने स्वार्थ के लिए क्याक्या क़ानून नहीं बना लेता!

मैंने दादा का हाथ पकड़ कर कहा, "मैं वचन देता हूं, दादा, कि यदि वह सहर्ष स्वीकार करेगी तो तुम्हारे बाद संतो को पत्नी रूप में ग्रहण करूंगा. समाज के विरोध की चिंता नहीं करूंगा."

दादा ने गद्‌गद कंठ से कहा, "मुझे ऐसी ही आशा थी. तू जानता है, हम समाज सुधार की बड़ीबड़ी बातें करते थे. तेरा यह कार्य उसका पहला क़दम होगा," कह कर दादा आकाश की ओर निहारने लगे.

मैं ख़ामोश सा केवल एक ही प्रश्न पर उलझा रहा. उस ख़ामोश रात में मेरे वचन का मौन साक्षी केवल आकाश था. क्या मैं यथार्थ में संतो को सुखी कर सकूंगा?

पैंतालीस दिन हम सब से सेवा करवा के हमें ऋणमुक्त कर दादा ने महायात्रा की तैयारी कर ली. उनकी गिरती हुई हालत ने निकट अंत की सूचना सबको दे दी. ताई का बुरा हाल था. मां तथा पिताजी पागलों की भांति डोल रहे थे—क्या किया जाए जिस से पिंजड़े का पक्षी पिंजड़े में ही रहे, उड़ न जाए?

लेकिन संतो? उसकी दशा का वर्णन करने की शक्ति मुझ में नहीं. यदि उसे यमराज के दर्शन हो जाएं तो सावित्री की तरह उन से अपने पति के प्राणों के लिए लड़ सकती है. किंतु कलियुगी भगवान भी चोरी में विश्वास रखते हैं.

हम सबका विलखना दादा को रोक न सका. वह चले गए.

भाभी के हाथ की चूड़ियां तोड़ दी गईं, पैरों के बिछुए उतार दिए गए और मांग का सिंदूर पोंछ दिया गया. यही तो उनका सुहाग था.

भाभी बेहोश थीं. उन्हें क्या मालूम था कि अब जो संसार उनके सामने आएगा वह दानव की भांति होगा. अनंत मरुस्थल होगा, जहां कंठ को गीला करने के लिए स्वच्छ जल की दो बूंद भी उनके लिए वर्जित होंगी. सामने शीतल जल का सरोवर देख कर भी वह उसे पीने की कामना नहीं कर सकतीं. तृषित नयनों से, व्याकुल हृदय से केवल उसे निहार सकती हैं. जीवन अब उनके लिए कठोर तपस्या और अग्नि परीक्षा हो जाएगा, जहां से समाज और धर्म उन्हें बेदाग़ निकल जाने को कहेगा.

और मैं उस मरुस्थल का एक नख़लिस्तान बना दिया गया.

जीवन का जो क्रम अब शुरू हुआ वह इतना मीठा नहीं था. घर में चारों ओर उदासी और मायूसी बरसती थी. सबके दिल टूट चुके थे और घर की हर चीज़ रमा दादा की याद दिलाती थी. ताई और मां दिनरात रोती थीं. संतो एक कमरे में मुरझाए फूल की तरह पड़ी रहती. उसे न शरीर की सुध थी, न खानेपीने की. वह अपना मुख छिपाए पड़ी रहती मानो वही पति की मृत्यु का कारण हो.

दादा ने ठीक सोचा था. क्या संतो को इस तरह का जीवन बिताने दिया जा सकता है? क्या उसे एक स्नेही साथी की आवश्यकता अब नहीं रही? क्या अब उसके पास हृदय नहीं रह गया? क्या संसार में उसके सुखभोग की इच्छा झुलस गई है? एकांत क्षणों में जब उसके अरमान करवट बदलेंगे, शरीर का रोमरोम कहीं सिमट जाना चाहेगा, तब क्या वह दीवार से सिर फोड़ कर निश्चित हो जाए? नहीं, यह उसके और मानवता के प्रति अन्याय एवं अत्याचार होगा. और उस जैसी जो लाखोंकरोड़ों...

नारी के व्यथित जीवन की कहानी का भी कोई अंत है! प्याज के छिलके की भांति उसकी एकएक तह उधड़ती जाती है और अंतिम छिलके के साथ जैसे प्याज निःशेष हो जाता है, वैसे ही नारी भी समाप्त हो जाती है.

संतो के भाईसाहब आए. वह उसे ले जाना चाहते थे.. सभी ने यह ठीक समझा. संतो भी जाना चाहती थी. किंतु जाते समय अचानक उसकी रुलाई फूट पड़ी और वह मुझ से चिपट कर रो पड़ी. मैं भी अपने को संभाल न सका.

घर सूना लगने लगा. हमारे जीवन का वही क्रम फिर चल पड़ा. अब ताई अपने कामकाज से निबट कर अपने भगवान को ही याद करने में लगी रहतीं. जिस भगवान की आराधना में उन्होंने इतनी उमर बिताई, उसी ने उनके ऊपर इतने कष्ट ढाए. पति छीना, पुत्र छीना. फिर भी उनकी श्रद्धा विचलित नहीं हुई. कहतीं, "भगवान अपने सच्चे भक्तों की ऐसे ही परीक्षा लेते हैं. हम जो कुछ भुगतते हैं, अपने ही कर्मों का फल होता है. भगवान का क्या दोष?"

मेरे हृदय में दादा की वह बात, उस रात का वचन चक्कर काटता रहता. मैं व्यथित रहता. सोचता, जब मैं यह सवाल उठाऊंगा तो घर में, समाज में कितनी खलबली मचेगी. मुझे चरित्रहीन और पापी की उपाधि से विभूषित किया जाएगा. यदि साहस कर संतो ने मेरा साथ भी दिया तो उसे भी न जाने कितनी गालियां सहनी पड़ेंगी. शायद समाज की परंपरा को तोड़ने के फलस्वरूप हमें घर से, समाज से बहिष्कृत कर दिया जाए और हमें निर्वासन का जीवन बिताना पड़े.

मैं इन्हीं सब उलझनों में उलझा रहता. अगला क़दम बढ़ाने से पहले मैं ख़ूब सोचसमझ कर अपने मन को पक्का कर लेना चाहता था, ताकि समाज की लाल आंखें देख कर मैं विचलित न हो जाऊं और उस अभागी नारी को मझधार में छोड़ कर किनारा काट जाऊं.

मैंने दादा को मृत्युशैया पर जो वचन दिया था, उसे झूठा कर

के अपनी आत्मा को कलंकित नहीं करूंगा. और फिर संतो जैसी सुंदर, सुशील, स्नेहमयी और कर्त्तव्यपरायण पत्नी मैं पाऊंगा कहां? वह मेरे स्वर्गवासी भाई की यदि पत्नी थी तो क्या मेरी पत्नी बनने योग्य नहीं? क्या वह मेरे बच्चे की मां बनने का अधिकार नहीं रखती? हमें क्या हक़ है कि हम उसके भविष्य को अंधकारमय कर दें? उसके स्वाभाविक विकास को रोक दें?

मेरे विचार अत्यंत विद्रोही हो रहे थे, फिर भी मैं समय की प्रतीक्षा कर रहा था.

संतो को मायके गए एक साल हो गया था. मुझे यह अच्छा नहीं लगता था कि वह अनिश्चित काल के लिए हम से दूर रहे. मैं अक्सर मां और ताई से उसे बुलाने को कहता. वे स्वयं उसे बुलाना चाहती थीं. इस कारण मुझे आज्ञा मिल गई और मैं संतो को लिवा लाया.

गिरा हुआ स्वास्थ्य काफ़ी सुधर गया था और सादगी में भी संतो का सौंदर्य कम नहीं हुआ था.

अब संतो मुझ से एकांत में मिलने से घबराती थी. हम मिलते भी तो एक झिझक हमारे बीच बनी रहती. अपनी कमजोरियों के प्रति हम सतर्क थे. हम नहीं चाहते थे कि समाज को अनायास ही हमारी ओर उंगली उठाने का अवसर मिल जाए.

संतो अपने को कामकाज में उलझाए रहती. जब कोई काम न होता तो किताब ही ले बैठती. रामायण से उसे विशेष प्रेम था. मैं नहीं जानता कि रामायण में वह अपने लिए कौन सा आदर्श खोज रही थी?

मैं चुपचाप यह सब देखता और सोचता कि अवसर मिले तो अपने हृदय का रहस्य उसके आगे खोलूं. उसकी सहमति के बाद ही मैं आगे क़दम बढ़ा सकता था.

संध्या उतर रही थी. छत पर चारपाई पर लेटी संतो चुपचाप आकाश निहार रही थी. वह किसी गहरे चिंतन में खोई हुई थी.

शायद आकाश में उदित हुए उस एकाकी तारे से अपने जीवन की तुलना कर रही हो.

मेरे आने का उसे आभास न हुआ. मैं चुपचाप मुंडेर का सहारा लिए अपलक उसे निहार रहा था. मेरे मन में विचारों का बवंडर उठ रहा था और मैं कुछ चंचल हो गया था. शरीर में एक सिहरन दौड़ रही थी, जिस से मैं रोमांचित हो रहा था. मैं संतो को संपूर्णतया पाना चाहता था, किंतु दुनिया की नजरों से छिप कर नहीं. मैं पाप का खेल नहीं खेलना चाहता था.

अचानक मैंने मौन तोड़ा, "सच कहता हूं, इतना मनोयोग यदि मैं सीख पाता तो आज संसार का महान व्यक्ति होता."

संतो एकदम घबरा गई और उठ कर चारपाई पर बैठ गई. साड़ी का पल्ला ऊपर खींचने ही वाली थी कि मैं बोला, "रहने दो न इसे, संतो. ऐसे बुरा तो लगता नहीं. आज मैं तुम्हें नाम ले कर पुकार रहा हूं. एक दिन तुम्हें भाभी अच्छा नहीं लगता था, इसलिए तुमने नाम ले कर पुकारने का अधिकार दिया था. और आज मुझे भाभी अच्छा नहीं लगता. इसलिए उस अधिकार का उपयोग कर रहा हूं."

संतो मेरी ओर देख कर बोली, "तुम हो, बाबू! तुमने तो मुझे डरा दिया." और वह चारपाई से उठने लगी.

मैं चारपाई के निकट आ कर बोला, "उठने की क्या आवश्यकता है—बैठी रहो न."

तब वह उठ न सकी मानो जकड़ दी गई हो. एक ओर खिसक कर बोली, "बैठो."

मैं उसके निकट चारपाई पर बैठ गया. आज कितने ही दिनों बाद उसके निकट बैठने का अवसर मिला था, किंतु कितना अधिक अंतर हो गया था अब! मैं क्षण भर उसके चेहरे की ओर निहारता रहा. फिर बोला, "जानती हो, संतो, आज महीनों से मेरे हृदय में तूफ़ान मचा हुआ है. मैं कुछ कहने के लिए छटपटाता हूं, किंतु कह नहीं पाता.

आज सोचता हूं अधिक दिन उसे टालना तुम्हारे प्रति, अपने प्रति और स्वर्गीय दादा के प्रति घोर अन्याय होगा. उनकी जो वसीयत है, उस पर तुम्हारी सम्मति पा कर ही मैं उऋण हो सकता हूं."

उसे मेरी बातें पहेली सी लगीं. वह मेरा मुख निहार रही थी. बोली, "क्या बात है?"

"दादा ने मृत्यु से पहले मुझ से वचन लिया था."

"क्या वचन?"

"उन्होंने अपने बाद तुम्हारा सारा भार मुझ पर सौंपा था. मैं तुम्हारी देखभाल करूं."

"तुम्हीं तो कर रहे हो देखभाल, बाबू. तुम सहारा न दोगे तो इस अभागिनी को और सहारा कहां मिलेगा? तुम लोगों की छत्रछाया में अपना जीवन आराम से काट सकूं, इस से बड़ा और वरदान मेरे लिए क्या होगा?"

"ठीक यही मैंने दादा से उस समय कहा था. किंतु उन्होंने जो कुछ कहा उस से मैं हतबुद्धि सा रह गया था. किंतु वह सत्य है. शायद तुम उसे सुनना भी पाप समझोगी. लेकिन, संतो, संसार में पापपुण्य की विवेचना करना हमारा काम नहीं. हमारे सामने तो कठोर कर्त्तव्य की पुकार है. वहां भावना को स्थान नहीं. हमारा हिंदू समाज अत्यधिक भावना के बहाव में बह कर ही तो आज रसातल को जा रहा है. अब भावनाओं के सहारे जीने का युग नहीं रहा. नहीं जानता मेरी बात सुन कर तुम क्या समझो. तुम्हारे सामने कितने ही दृष्टांत सजीव हो जाएं और तुम भावुकता में बह कर न जाने किस ओर चली जाओ."

मैं संतो के मुख पर भावों के उतारचढ़ाव को देख रहा था. मेरी बातें उसके हृदय में तूफ़ान उठा रही थीं.

मैं कहता ही गया : "तुम्हें पत्नी रूप में ग्रहण करूं, तुम्हारे उजड़े सुहाग को बसाऊं, तुम्हें फिर से जीने का मौक़ा दूं—यही दादा की एकांत वसीयत थी."

संतो को मानो बिजली का जिंदा तार छुआ दिया गया हो. बोली, "बाबू..."

"यह झूठ नहीं है, संतो, न ही धोखा है. मेरे वचन का गवाह भी आकाश के अतिरिक्त कोई नहीं है. मैं तुम्हें बहकावा दे कर भ्रष्ट नहीं करना चाहता. मैं इतना नीच नहीं हूं. जो सत्य था तुम पर प्रकट कर दिया. मानना, न मानना तुम पर निर्भर है. किंतु इतना और कह दूं कि तुम्हारी स्वीकृति में मेरे जीवन का समस्त सुख निहित है."

संतो क्षण भर निःशब्द और निरुत्तर बैठी रही. तब अचानक वह मेरी गोदी में गिर पड़ी और रो उठी. बोली, "मैं क्या करूं, बाबू?" नारी इस से अधिक कह ही क्या सकती थी!

मैं चुपचाप उसकी पीठ सहलाता रहा. कुछ बोला नहीं; बोलता भी क्या? और आज पहले दिन मैंने अनुभव किया कि नारी कितनी असहाय और बेबस है.

संतो में एक विशेष परिवर्तन आया. अब वह मुझ से एकांत में मिलने से न तो घबराती और न उसे मुझ से बातें करते झिझक ही लगती. उसके मुख पर मुसकराहट देख कर मुझे प्रसन्नता होती.

घर में एक विचित्र परिवर्तन हुआ. ताई और मां संतो को ताड़ना देतीं, भलाबुरा कहतीं. उसे संदिग्ध दृष्टि से देखतीं. अकसर पूछतीं कि वह मेरे कमरे में क्या करती रहती है?

संतो चुपचाप सुनती, सहती, किंतु प्रतिवाद न करती. मैं इन परिवर्तनों को ध्यानपूर्वक देख रहा था और जल्दी-से-जल्दी फ़ैसला कर डालना चाहता था. वह जिस यातना और अपमान की शिकार हो रही थी, उसका कारण तो मैं ही था. कभीकभी मैं उसकी आंखों में आंसू देखता. पूछता तो वह केवल इतना कहती, "कुछ नहीं, नारी होने का उपहार है."

एक दिन शाम को जब मैं घर आया तो संतो को कहीं नहीं पाया. उसका सामान भी कमरे में नहीं था. समझ गया कि वह अपने

मायके चली गई होगी. पर इस प्रकार मुझ से बिना कहे क्यों चली गई? मेरे पूछने पर ताई बोलीं, "तीन बजे की गाड़ी से अपने मायके चली गई."

"मायके भेजने की आज्ञा उसे किसने दी?"

"उसे रखने या भेजने के लिए हमें तुझ से पूछने की आवश्यकता नहीं है," ताई बोलीं.

"पागल न बन. जा अपने कमरे में," मां ने कहा.

"आज मैं इस बात का पूरा फ़ैसला करना चाहता हूं." मुझे क्रोध आ रहा था.

ताई बोलीं, "महल्ला सिर पर न उठा, बाबू. आंखों देखी मक्खी नहीं निगल सकती थी."

"संतो ने ऐसा कौन सा पाप कर डाला जो तुम से नहीं देखा गया?"

"वाह, ख़ूब रही, बेटा! मैं ही क्या, सारी दुनिया जानती है. उसका तो पांव ही खराब था. जिस दिन से इस घर में पड़ा, सब नष्ट-भ्रष्ट हो गया. लेकिन अब और थूथू सहने की हम में ताब नहीं है."

मेरी सहनशक्ति जवाब दे गई. बोला, "तुम लोगों ने जो सोचा है वह नहीं होगा. तुम लोग अंधे हो. भलाई में बुराई ढूंढ़ते हो. लेकिन सुन लो, तुम्हारी नाक रहे या जाए, मैं संतो से विवाह करूंगा."

"तो तू भी इतना कान खोल कर सुन ले कि तेरे लिए इस घर में जगह नहीं होगी," मां ने कहा.

"बहुत अच्छा," कह कर मैं अपना सामान ले कर उसी समय घर से बाहर चला गया. सौभाग्यवश मुझे एक मित्र के यहां रहने को जगह मिल गई.

मैं संतो के मायके गया. उसके भाईसाहब से इस विषय पर बातें हुईं. वह तैयार हो गए. वह कब संतो को दुखी देखना चाहते थे. तीसरे दिन आर्यसमाज मंदिर में यथाविधि हमारा विवाह हो गया.

संतो की मांग फिर भरी गई. चूड़ियां और बिछुए पहनाए गए. वह प्रसन्न थी. मैं उसका अभिनव रूप देख कर फूला न समा रहा था.

अब हमारी छोटी सी गृहस्थी बन गई. संतो ने उसे संभाला. जीवन को आनंदमय बना दिया. हमारा प्रेम अबाध रूप से बह रहा था. किंतु कभीकभी मां और ताई की भी याद आ जाती. संतो को इस से बहुत दुख होता. कभी वह अपने को कोसती भी. लेकिन मैं उसके अधरों पर अपने अधर रख कर चुप कर देता.

मैं कहता, "कितने दिन रूठी रहेंगी? एक दिन अपनी ग़लती समझ कर पछताएंगी और हमें प्रेम से अपनाएंगी. तभी हमारी सच्ची विजय होगी."

मैंने एक दिन संतो से पूछा कि मुझ से विवाह कर के क्या वह सुखी है.

उसने जवाब दिया, "कौन ऐसी अभागिन होगी जो आपको पा कर सुखी न हो? मैं तो आपके योग्य न थी लेकिन दयावश आपने मुझे चरणों की सेवा करने का अवसर दिया. इस से बढ़ कर और सौभाग्य मेरा क्या हो सकता है?"

मैं निहाल हो गया. मैंने संतो को सीने से चिपटा कर चूम लिया. वह लजा कर सिमट गई.

पिताजी की आंखें ख़राब हो गई थीं. वह घर बैठ गए. जिस दिन मैंने यह सुना, मेरे दुख का पारावार न रहा. संतो ने रोरो कर मुझे घर जाने को विवश कर दिया.

मैं झिझकता हुआ घर गया. घर में स्वागत ही हुआ. किंतु वापस लौट आने के विषय में किसी ने कुछ न कहा. अब मैं अकसर घर जाता. शुरूशुरू में ताई और मां मुझ से नहीं बोलीं किंतु अब वे भी बोलने लगीं. मैं खुश हुआ कि मेरी विजय हो रही है.

इसी तरह एक साल और बीत गया. एक दिन संतो ने लजा

कर मुझे बताया कि वह मां बनने वाली है. मेरे आनंद का पारावार न रहा.

उस दिन बातों-ही-बातों में ज़िक्र कर दिया तो ताई कहने लगीं कि मैं बहुत बेवक़ूफ़ हूं. संतो को फ़ौरन घर ले आऊं. पिछली बातों को भूल जाऊं. यह मेरी पूर्ण विजय थी.

यथासमय संतो ने एक सुंदर बालक को जन्म दिया. सारे घर में आनंद का सागर लहरा उठा. ताई ने खूब जोर से शंख और थाली बजाई.

अब मैं दफ़्तर से अकसर जल्दी चला आता. संतो मेरी भर्त्सना करती. मैं नन्हे की ओर इशारा कर के कहता, "यह खींच लाता है."

उस दिन दफ़्तर में बैठेबैठे न जाने क्यों तबीअत बहुत बेचैन होने लगी. छुट्टी ले कर घर चल दिया.

घर में घुसा तो सन्न रह गया. बाहर कुछ आदमी बैठे बांस चीर रहे थे. कमरे में संतो को जमीन पर ले कर सफ़ेद चादर ओढ़ा दी गई थी. मैंने चादर उठा के देखा—संतो मर गई थी!

आज सुबह उसकी हालत बिलकुल ठीक थी. फिर यह क्या हो गया? अचानक मेरी दृष्टि कोने में पड़ी एक नीली शीशी की ओर चली गई. उस पर लिखा था 'जहर'.

मेरा सिर भन्ना गया. आंगन में आ कर मैंने पूछा, "संतो कैसे मरी? जहर उसे किसने दिया?"

सब सन्नाटे में आ गए. तभी ताई मेरे सामने आईं. बोलीं, "जहर मैंने दिया. मैं ऐसी पापिन को दुनिया में नहीं रहने देना चाहती थी. पहले न मार सकी क्योंकि उसके पेट में तेरा बच्चा था. मैं पोते की हत्यारिन होना नहीं चाहती थी."

उस समय मेरी क्या दशा हुई—मैं बयान नहीं कर सकता. मुझे चारों ओर अंधेरा-ही-अंधेरा नजर आ रहा था. मेरे चारों ओर की चीजें जोर से चक्कर काट रही थीं. मेरे कानों में भीषण हंसी के ठहाके

गूंज रहे थे. बदन का सारा खून इतनी तेजी से चक्कर काटने लगा कि मुझे लगा मानो मेरी नसें फट जाएंगी और शरीर का सारा रक्त बाहर बिखर पड़ेगा.

मुझे क्या करना चाहिए, क्या नहीं--में कुछ समझ न सका. ताई मेरे सामने खड़ी थीं. वह मुझे एक भयानक दैत्य सी लग रही थीं. लगा वह अपना पंजा मेरी ओर बढ़ा रही हों. पास ही कुल्हाड़ी पड़ी थी. मैंने उठा ली. मेरा कुल्हाड़ी उठाना था कि एकदम शोर मच गया. कुछ लोग मेरी ओर दौड़े किंतु तब तक कुल्हाड़ी का भरपूर हाथ ताई के सिर पर पड़ चुका था.

ताई कटे वृक्ष की भांति धड़ाम से फ़रश पर गिर कर तड़पने लगीं. मैंने तड़पती हुई ताई को देखा, खून से रंगी कुल्हाड़ी को देखा, अपने को देखा, और अपने चारों ओर भयभीत भीड़ को देखा, और तब एकदम घर से बाहर निकल पुलिस थाने की ओर क़दम बढ़ाया.

प्रभुशंकर चुप हो गया. अदालत के कमरे में निस्तब्धता छाई हुई थी. नन्हे को गोदी में लिए मां सामने बैठी थी. उसकी आंखों से अविरल अश्रुधारा बह रही थी.

जज ने कहा, "सचमुच तुम्हारी कहानी वेदनामय है. उसे सुन कर समाज की दुर्दशा का सच्चा चित्र आंखों के सम्मुख खिंच जाता है. तुमने भारत के एक जलते हुए प्रश्न को हल करने की चेष्टा की. तुम्हारा साहस सराहनीय है. तुमने पाप नहीं किया, पाप में डूबते हुए हिंदू समाज को पुण्य का रास्ता अवश्य बताया है. तुम्हारे साथ मेरी व्यक्तिगत सहानुभूति है.

"किंतु तुमने भावुकता में वह कर एक जघन्य अपराध कर डाला है. हत्यारे को समाज और क़ानून प्रश्रय देना नहीं जानते, इस से शांति खतरे में पड़ती है. फिर भी तुम्हारा मुक़दमा विचारणीय है. उसके लिए मुझे समय चाहिए. मैं आज अदालत को मुलतवी करता हूं."

चार सिपाहियों के मध्य घिरा प्रभुशंकर कटघरे से बाहर निकला. नन्हे को लिए मां सामने पड़ गई. प्रभुशंकर क्षण भर उन्हें निहार कर बोला, "मां, मैं नहीं चाहता कि यह बच्चा अनाथ कहलाए. लोग इसकी ओर उंगली उठा कर इसे पाप का फल कहें. यदि इसे अपना बच्चा समझ कर पाल सकती है तो रख वरना ला मुझे दे. मैं इसे सदैव के लिए दुखदर्द से मुक्त करता जाऊं."

मां ने व्यथित हो कर नन्हे को छाती से चिपटा कर मुख फेर लिया.

प्रभुशंकर के मुख पर एक मुसकान खेल गई—विजय की मुसकान.

++

चल गई, पट्ठे!

प्रह्लादनारायण मीतल

श्री प्रह्लादनारायण मीतल का जन्म सन १६२१ में आगरे में हुआ था. अभी आपकी शिक्षा चल रही है. कहानी लिखने का चाव पुराना है. आपकी प्रथम कहानी 'प्रायश्चित्त' १९३६ में 'अतुल' उपनाम से प्रकाशित हुई थी. आपने 'मोहन' उपनाम से भी लिखा है. अब तक आपकी कई कहानियां विभिन्न पत्रपत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुकी हैं.

तेरहचौदह वर्ष का एक लड़का चिल्लाता हुआ भागा जा रहा था: "चल गई, पट्ठे! चल गई!"

चौराहे पर एक दूसरे लड़के ने, जो उसका साथी था और संभवतः उसकी राह देख रहा था, पूछा, "अबे श्यामू, ठहर तो. कहां चली?"

श्यामू ने हांफते हुए कहा, "माल के बाज़ार में—वह जो जूते वाले की दुकान है न, बस उसी के सामने तो. अभी तो चली है; भागा हुआ जो आ रहा हूं. चल, चल, जल्दी चल."

भरेपूरे बाज़ार में आतंक छा गया. लोग भयभीत हो कर इधर-उधर भागने लगे, इस से और भी उत्तेजना और घबराहट फैली. दुकान-दारों ने फुरती से दुकानें बंद करनी शुरू कीं.

जैसे श्रावण में श्यामवर्ण, शीतल और सुखदाई बादलों को देख कर मनुष्य प्रतिपल वर्षा की बाट जोहता है, वैसे ही आजकल दो सांडों की लड़ाई अथवा सट्टेबाजों के कोलाहल के कारण मनुष्य को दंगे की आशंका लगी रहती है. जैसे यह हिंदूमुस्लिम दंगे का मौसिम हो!

आज तो आदमी सोचता है: फ़लां व्यक्ति क्यों भागा चला जा रहा है—क्या कहीं दंगा हो गया है? हिंदूमुस्लिम दंगा? इस आदमी के बड़े संदूक में क्या है—छुरे, बम या रिवाल्वर? इन मियांजी के साथ जो औरत जा रही है, उसका बुरक़ा पहनने का ढंग बड़ा निराला है! पचीस वर्ष की उमर में जैसे आज पहली बार ही इसने बुरक़ा ओढ़ा है. इसकी चाल में घबराहट है. बारबार इधरउधर किसे देखती है? कहीं हिंदू तो नहीं है? गुंडों के हाथ पड़ गई हो तो?

आज आदमी का मन शंकित है, जीवन अरक्षित. हिंदू मुसल-मान को ख़तरनाक समझता है, मुसलमान हिंदू को घृणित. हृदय में साहस नहीं है. आदमी मन का पाप छिपाता है. प्रकट में हिंदू और

मुसलमान इन कांडों की निंदा करते हैं, किंतु मन में कुछ और ही सोचते हैं. कर्मक्षेत्र में उनकी भावनाएं विकृत हो जाती हैं, धार्मिकता बावली बन जाती है. बेचारा विवेक सौत पुत्र की भांति इधरउधर ठोकरें खाता है. अदूरदर्शिता और अविवेक पागल हाथी की भांति भागभाग कर इसे उसे तहसनहस करते फिरते हैं. शंका मनुष्य के मन पर दानव की भांति चढ़ बैठी है. शक्ति का ज्ञान लुप्त हो गया है.

यह आदमी जो स्वयं बड़ा गंभीर है, जो नित्य नईनई खोज करता रहता है, जिसने आकाश से ले कर पाताल तक के समस्त भेदों को जान लिया है, स्वयं आदमी की सुखशांति का सरल भेद नहीं जान पाया. यह आदमी ही प्रेम और सौहार्द का आज घोर शत्रु बन गया है.

माल का बाजार मुसलमानी महल्ला है. क्योंकि वहां चल गई है, अतः हिंदू शंकित हो उठें तो अनुचित ही क्या? सोचते हैं कोई अभागा हिंदू वहां फंस गया होगा. हिंदू की आंख का भय मुसलमान को भी विचलित कर देता है. आखिर मुसलमान के दिल में भी ठीक वैसी ही धड़कन होती है जैसी हिंदू के दिल में.

सेठ रामगोपाल ने दुकान में लगे थानों को भीतर फेंकने का आदेश दिया और अपने पड़ोसी की दुकान में झांका. शेख अब्दुल हादी अपनी सौदागरी की दुकान समेटने में लगे थे. छोटी सी दुकान [illegible] सेठजी ने बड़ी निराशा के साथ कहा, "देखा, हादी साहब, आज [illegible] बाद तो दुकान खुली थी कि फिर होहल्ला हो गया. क्यों, सा[illegible] दंगाइयों के भी बालबच्चे हैं कि नहीं? इनको भी अन्न चाहिए [illegible] में जमा करे बैठे हैं? क्या ये मोहमाया से मुक्त हैं? हादी सा[illegible] जल्दी कीजिए."

हादी साहब ने जो कांच के बरतन संभालसंभाल [illegible] थे, बिना नजर उठाए ही कहा, "अजी, क्या अर्ज करूं, जि[illegible] रही है इन दंगों के मारे. आप जानते ही हैं, रोजगार [illegible] और घर में जो राशन था सो चलता ही कितने दि[illegible]

ठंडी पड़ी है, आज चूल्हा जलने की उम्मीद थी, सो फिर क़हर ढह गया. ख़ुदा ग़ारत करे इन शोहदों को! लौंडा घर से आ गया होता तो कुछ इंतजाम भी करता. अब दुकान बंद करूं या राशन की दुकान पर क़तार में खड़ा होऊं? यह भगदड़ तो बढ़ती ही जा रही है; मामला कुछ संगीन नजर आता है. आपने बहुत जल्दी दुकान बढ़ा दी?"

सेठजी ने कुछ तसल्ली के भाव से कहा, "आपने अंदर का हाल देखा? माल कूड़े के ढेर की तरह पड़ा है—जान से ज़्यादा प्यारा तो यह है नहीं. आप तो ऐसे चुन रहे हैं जैसे मोती! मियां, यह चवन्नियों का माल क्या आपको जिंदगी से भी ज्यादा प्यारा है? देखते क्या हैं झट-पट अंदर सरकाइए. अगर जिंदगी रही तो फिर संभाल लेना. अच्छा, हादी साहब, चलता हूं. आप संभल कर जाइए. मौक़ा नाज़ुक है. नमस्ते!"

हादी साहब रुआंसे हो गए. साहस दग़ाबाज मित्र की तरह धोखा देने लगा. गिड़गिड़ा कर बोले, "थोड़ा और रुकिए न, अभी दस मिनिट में मैं भी चलता हूं. ठीक ही कहते हैं आप जिंदगी रही तो दुकान तो संभलती ही रहेगी. यह लीजिए अब तो यों ही सरका रहा हूं. आजकल मौक़ा बड़ा नाज़ुक है. आप जानते ही हैं ग़ैर महल्ले में आदमी की क्या हालत होती है. इतमीनान तो ज़मीन पर से उठ ही गया. न जाने हमीदा की मां की क्या हालत होगी? सोचती होगी कि मियां चावल आटा लाते होंगे; यहां मियां की जिंदगी के शेयरों का भाव पल-पल गिरता जा रहा है. घर का दरवाज़ा दिखाई दे जाए तो ख़ुदा का शुक्र कहिए. हाय री तक़दीर! बस हो गया, किवाड़ लगाता हूं. ज़रा दरयाफ़्त तो कीजिए कहां चल गई. देखिए तो लोग कितने बदहवास हो रहे हैं! चेहरों पर मुरदनी छा रही है."

हादी साहब ने वाक़ई में जल्दी की. सेठजी इतने उदार तो नहीं थे कि हादी साहब की तसल्ली के लिए वह अपने जीवन का ख़तरा मोल लेते, और सो भी यह जानते हुए कि हादी साहब न सही, उनके

कुछ दूसरे भाई इस झगड़े की जड़ हैं. आदमी का क्या भरोसा--कौन कब दग़ा दे जाए! किंतु हादी साहब ने जिस विवशता से याचना की उसके दयनीय आकर्षण ने कुछ क्षणों के लिए उस विकट परिस्थिति का ध्यान उन्हें भुला दिया. जब सजग हुए तो उनकी भी इच्छा वास्तविक्ता जानने की हुई.

एक बाबू साहब लंबेलंबे डग भरते हुए जा रहे थे. चेहरा मुरझा कर काला हो गया था, घबराहट के कारण पसीना छूट रहा था. सेठजी लपक कर उनकी बग़ल में पहुंचे और लगे पूछने, "अजी बाबू साहब, सुनिए तो!"

बाबू साहब जल्दी में थे. रुक कर ख़तरा मोल लेना उन्होंने उचित नहीं समझा. ठिठक गए. कुछ रुकते, कुछ चलते हुए उन्होंने कहा, "कहिए, कहिए, क्या काम है?"

सेठजी ने आत्मीयता प्रदर्शित करते हुए बहुत धीरेधीरे ऐसे पूछा मानो पुराना परिचय हो, "कहिए तो यह क्या हो गया?"

यह स्पष्टतः ही बेढंगा प्रश्न था. बाबूजी चिढ़ गए. चलती गाड़ी में असमय ब्रेक लगने से वह खीज भरे स्वर में बोले, "अजी साहब, साफ़ दिखाई दे रहा है हिंदू मुसलमानों में झगड़ा हो गया है और आप पूछते हैं कि क्या हो गया? कोई विलायत में तो लड़ाई हो नहीं रही जिसकी यह भगदड़ है."

इस उत्तर से सेठजी खिसिया गए. हंसने की चेष्टा करते हुए बोले, "अजी, माफ़ कीजिए, मेरा मतलब था कहां चले?"

"माल के बाजार में."

"दंगा तो मुसलमानों ने ही शुरू किया होगा?"

"अब यह तो मुसलमान जानें या आप. मरना हो तो उन से जा कर पूछें. आप तो रूई में से धागा निकाल रहे हैं." बाबू साहब आगे बढ़ गए. सेठजी पूछना चाहते थे हिंदू ज़्यादा मरे या मुसलमान पर बाबू साहब का रुख न पा कर हिम्मत नहीं पड़ी.

हादी साहब ने पूछा, "झगड़ा कहां हुआ?"

"माल के बाजार में. अब चलिए, जल्दी कीजिए. बात यह है कि हमारे घर जरा कमजोर दिल की हैं; ऐसी खबरें सुन कर उन्हे फ़ौरन ग़श आ जाता है. बढ़े चलिए."

हादी साहब चल दिए. तिरछी निगाहों से अगलबग़ल और पीछे देख लेते थे. कभीकभी सेठजी के मनोभाव भी पढ़ने की कोशिश कर लेते थे. बात यह थी कि सारा महल्ला हिंदुओं का था. सेठजी घबराए हुए अवश्य थे किंतु अपनी बस्ती होने के कारण उन्हें खतरा प्रतीत नहीं हो रहा था; परंतु हादी साहब के दिल की धड़कन बढ़ती जा रही थी. पुरुषार्थ को भय ने बुरी तरह दबोच रखा था. हालत ऐसी थी कि निहत्था व्यक्ति भी उनकी तरफ़ ताक लेता तो उनके फ़रिश्ते कूच कर जाते. आखिर न रहा गया तो बोले, "सेठजी, जरा आहिस्ते चलिए, पैर कांप रहे हैं. हिम्मत साथ नहीं देती."

सेठजी उनकी घबराहट पर हंस पड़े. बोले, "यह क्या, हादी साहब? मेरे रहते आपका बाल भी बांका नहीं हो सकता. न हो, मेरे घर ठहर जाइए. बाजार साफ़ हो जाए तब निकल जाइएगा."

हादी साहब ने बड़े अविश्वासपूर्वक सेठजी की ओर देखा. भला यह कैसे संभव था! जानबूझ कर मौत के मुंह में पड़ना! माना सेठजी नेक इनसान हैं, अपनी जात से मेरा कोई नुक़सान नहीं होने देंगे, लेकिन महल्ले वालों को पता चल गया तो सेठजी लाख चाहें मेरी हड्डी का भी पता न चलेगा. खुदा से दुआ कर रहे थे कि सहीसलामत घर पहुंचा दे तो पांच आने की रेवड़ी बांटें, यहां सेठजी ठहरने को कह रहे हैं. बोले, "मेहरबानी है आपकी, आप तो ख़ुदा की दुआ से . . . खैर, आप जानते ही हैं कि आदमी आदमी की जान का दुश्मन हो रहा है. अपनी तो कुछ नहीं—आज मरे या कल पर बच्चों और बीवी की जरा फ़िक्र है. आज तो रास्ता चलना भी पहाड़ हो रहा है."

यथार्थ में तथ्य यह है कि बुद्धिविकास की बात हम भूल गए हैं. मिथ्या प्रचार और असंगत अफ़वाहों द्वारा मनुष्य का नैतिक साहस क्षीण किया जाता है. दंगे मूल रूप में स्वयं इतने बुरे नहीं जितनी दंगे की अफ़वाह.

अफ़वाह तो विषबुझा बाण है. यह तीर और तुक्के का हिसाब है. अखबारों के लिए तो यह जैसे प्राणदायिनी सुधा है. आखिर कागज़ किसी तरह रंगें तो. अफ़वाह मनुष्य का जीवन अधमरा कर देती है. यह सहज सी बात है कि दंगे के दिनों में दंगे की अफ़वाह उड़े तो आम आदमी आसानी से उस पर विश्वास कर लेगा, वास्तविकता खोजने की प्रेरणा नहीं होती.

मारने वाले मार देते हैं; मरने वाले बेचारे मर जाते हैं. आंखों के आगे एक इतिहास नाच जाता है. बीवी की याद आ कर रह जाती है, बच्चों की ममता दिमाग़ पर छाई ही रह जाती है. यह मौत भी क्या मौत है—अपमानपूर्ण और क्षुद्र मृत्यु! यह शत्रुता व्यक्तिगत है, जातिगत, धार्मिक अथवा राजनीतिक?

यह मृत्यु भी क्या मृत्यु है—जैसे कोई हिंसक पशु शिकार के लिए निरीह और निर्दोष जीवों और व्यक्तियों की निर्मम हत्या कर देता है. किंतु क्षुधार्त्त जीव का यह हिंसक कृत्य भी किसी सीमा तक मर्यादापूर्ण है—उसकी क्षुधाशांति का यही तो एक साधन है. किंतु इन लंबी दाढ़ी वालों और घनी चोटी वालों से पूछिए—इनका क्या स्वार्थसाधन होता है? किंचित आत्मसंतोष ही, एक क्षुद्र मनोवृत्ति ही तो है न? क्योंकि एक मार रहा है इसी लिए तो दूसरा भी मारना अपना धर्म समझता है.

दंगा होने पर पुलिस के पास सब से बड़ी मार कर्फ़्यू की है. कर्फ़्यू लग चुका था. सेठजी और हादी साहब भरसक लंबेलंबे डग भर रहे थे. होशहवास अव्यवस्थित थे. रास्ता नपता ही नजर न आता था. सड़क का सूनापन भयानक लग रहा था, जैसे भय से ओत-

प्रोत हो. साहस क्षीण करने के लिए यह मनहूस नीरवता कुछ कम न थी. कर्फ़्यू के कारण लोगबाग खुली सड़क पर तो आ नहीं सकते थे—पुलिस का भय था. हां, गलियों में डटे हुए थे. खाकी वर्दी और लाल पगड़ी देखते ही मकानों में घुस जाते.

हादी साहब कुरते की बांह बारबार सरकाते हुए और लड़खड़ाते पगों से बढ़े चले जा रहे थे. ग़ैर महल्ला होने के कारण वह कुछ सतर्क भी अधिक थे. निगाह जो पड़ी तो सामने ही गली में हुज्जूम देखा. चारछः लाठियां भी नजर आईं. अब काटो तो खून नहीं. समझ गए कि यह मौत की क्षणिक और अंतिम चुनौती है. घिघिया कर सेठजी की बांह पकड़ ली.

मनुष्य जब अपने हृदय में आत्मविश्वास का अभाव पाता है तो वह पराजय अनुभव करने लगता है. पुरुषार्थी अपने पुरुषार्थ पर भरोसा रखता है; विपत्तियां आती हैं तो टकरा कर छिन्नभिन्न हो जाती हैं. किंतु भीरु मनुष्य बिपत्तियों के स्मरण मात्र से ही अधमरा हो जाता है; और जब दुर्भाग्य उस पर आक्रमण करता है तो रहासहा साहस भी जवाब दे बैठता है. मनुष्य की चेतना और बुद्धि का ह्रास हो जाता है, और बड़ी दुर्भाग्यपूर्ण परिस्थितियों में उसका पतन होता है.

आने वाली विपत्ति की आशंका होते ही हादी साहब के देवता कूच कर गए. उन्होंने घबरा कर कहा, "देखिए तो यह मजमा कैसा है?"

सेठजी ऐसे चौंक पड़े जैसे किसी ने पिन चुभा दी हो. अभी तक नीची नजर किए हुए चले जा रहे थे. हादी साहब की ओर देखा—उनकी आंखों में भय छाया हुआ था. उनकी मूक दृष्टि प्राणों की भिक्षा के लिए गिड़गिड़ा रही थी. प्राणों का भय संसार में सब से विकट भय है. प्राण लेना तो हम में से अनेकों जानते हैं किंतु देना बिरले ही.

सेठजी ने गली की ओर देखा तो मामला साफ़ समझ

आ गया. गली के हिंदुओं का इरादा स्पष्ट था---कोई शिकार मिले. ऐसा एक शिकार उन्हें सौभाग्य से मिल भी गया था---हादी साहब.

विकट परिस्थिति थी. अदालत होती और हादी साहब कोई मुजरिम होते तो सेठजी जमानत दे कर छुड़ा लाते. राशन का अथवा कोई और संगीन मामला होता तो इंसपेक्टर, दारोग़ा या बड़े अफ़सरों को छोटीमोटी रक़म दे कर सफ़ेद का स्याह करा देते. सौ कोशिशें करते क्योंकि हादी साहब उनके पड़ोसी थे, वर्षों के साथी. अतः सहायता करना उनका कर्त्तव्य था.

किंतु इन मजहबी अदालतों के सामने न तो हिंदू की चलती है न मुसलमान की. यहां जैसे फ़ौजी शासन है, तनिक सी हुक्मअदूली पर लाठी मार दी जाती है, छुरा भोंक दिया जाता है या गोली भी दाग़ दी जाती है. यहां कोर्ट मार्शल से भी कड़ा न्याय होता है. न मुक़दमा पेश होता है, न गवाही ली जाती है, न मुजरिम को कुछ कहना और क़बूलना पड़ता है---सफ़ाई की तो फिर जरूरत ही क्या रह जाती है! साथ में गवाह को भी अपने जीवन से हाथ धोना पड़े सो सिफ़ारिश भी कौन करे! इन मजहबी अदालतों में हर मुजरिम के लिए मौत का फ़ैसला सुरक्षित रखा गया है जो सर्वोच्च न्यायालय का फ़ैसला होता है.

सेठजी की दशा सांपछछूंदर जैसी हो गई. बड़े धर्म संकट में पड़े. ये लोग देवी की बलि अवश्य चढ़ाएंगे. और हादी साहब सोचेंगे कि उन्होंने मरवा दिया. कम-से-कम अपने महल्ले तक जब तक कि उनका और हादी साहब का साथ था वह कोई अप्रिय घटना नहीं होने देना चाहते थे. साथ छूटे पीछे फिर कुछ भी होता रहे.

मुख्य वात तो यह थी कि अपनी आंखों एक चींटी का भी ख़ून उन्होंने नहीं देखा था. एक दफ़ा उनके छोटे लड़के ने एक मक्खी की हत्या कर दी थी जिसे देख कर उन्हें उलटी हो गई और दो घंटे तक जी नचलाता रहा. फिर इस चार हाथ लंबे व्यक्ति की दुर्भाग्यपूर्ण

मृत्यु की कल्पना ही जिस में वह रक्त से सना तड़पतड़प कर प्राण दे दे, उनका प्राणांत कर देने के लिए यथेष्ट थी. चाहे यह उनकी कायरता या नैतिक दुर्बलता हो अथवा धर्म के प्रति उपेक्षा.

सेठजी ने असहाय भाव से हादी साहब की ओर देखा जैसे कह रहे हों, अब क्या करना चाहिए? सामने तो प्रत्यक्ष दुर्भाग्य डटा हुआ है. बस नजर बचा कर निकल चलो.

हादी साहब के पैर सौसौ मन के हो गए. इसे कहते हैं दुर्भाग्य के प्रति आत्मसमर्पण. भय ने तो सिट्टीपिट्टी ही भुला दी थी. न करते बन रहा था न धरते.

धड़कते हृदय से हादी साहब ने सेठजी का अनुसरण किया. गली की भीड़ उनका यह भाव ताड़ गई. तीनचार व्यक्तियों ने जमीन पर लाठी बजाई और कहा, "पकड़ लो, जाने न पाएं!"

एक आवाज आई, "एक तो हिंदू है."

मुसलमान के दुर्भाग्य का यह स्पष्ट संकेत था. क्षण भर बाद ही उसका अंतिम पटाक्षेप था. हादी साहब मुसलमानियत को कोसने लगे जो उनकी मृत्यु का निमंत्रण बन रही थी. चेहरे का रंग सफ़ेद हो गया जैसे रक्त सूख गया हो. हताश भाव से कहा, "भैया, मुझ बूढ़े को मार कर क्या लोगे? तुम्हारा ही पड़ोसी हूं. अब तक तुम्हारे ही साए में रह कर पला हूं. मजाल क्या जो कभी अलिफ़ से बे की हो. मेरे लिए हिंदू मुस्लिम एक से हैं. भला बैर किए निबाह है!"

एक तगड़े से व्यक्ति ने कहा, "देखा, मियांजी के मुंह से कैसे मीठे बोल निकल रहे हैं! फंस जो गए हैं!"

दूसरे उग्रवादी बोले, "अजी, मार कर ख़तम करो साले को, झंझट क्या है?"

सेठजी ने घबरा कर कहा, "अरे, ग़जब हुआ पुलिस आ गई

पुलिस का नाम सुनते ही भीड़ के पैर उखड़ गए. गुंडा

अनाचारी और पाशविक हो सकता है किंतु साहसी कभी नहीं. वार हमेशा पीछे से और अंधेरे में ही करेगा. उस में सिंह की सी दहाड़ नहीं है, आत्मबल नहीं है, साहस नहीं है कि अपने से तगड़े हाथी के गाल पर तमाचा मारे और द्वंद्व युद्ध को ललकारे. वह चोर बिल्ली की भांति दुबकदुबक कर आएगा, कहीं कोई देख न ले, और झपट कर वार कर के भाग जाएगा. जीवनमरण का युद्ध उसके पुरुषार्थ के परे की बात है. ललकार सुन कर वह डट नहीं सकता—बीच राह से लौट जाएगा. जैसे पानी तेल का साथ नहीं है, साहस और दुराचार का भी कोई मेल नहीं.

हादी साहब को बरबस प्राणदान दे लोग गली में भाग कर छिप गए.

सेठजी ने अर्द्धमूर्च्छित हादी साहब की बांह पकड़ कर कहा, "चलो, भागो. ख़ुदा को दुआ दो."

प्रकृतिस्थ होने के पश्चात हादी साहब ने महसूस किया कि अभी वह जीवित हैं. पूछा, "कहां हैं पुलिसवाले? कोतवाली ठहर जाऊंगा. घर तक जान ले जाना दुशवार है."

बदहवासी में भी सेठजी को हंसी आ गई. बोले, "अजी, झांसा था. पुलिस का नाम न लेता तो अब तक आप ख़ुदागंज पहुंच गए होते! दूसरा उपाय ही क्या था?"

हादी साहब कृतज्ञ हो गए. भय और आतंक से उनका रोम-रोम सिहर रहा था. कृतज्ञता प्रदर्शित करते हुए कहा, "ईमान से, तुमने मुझे अपना ग़ुलाम बना लिया. बच्चे तुम्हारे अहसान को उमर भर नहीं भूल सकते. ख़ुदा जानता है उस वक़्त मेरी कैसी हालत हो गई थी. सच पूछो तो तुम्हारी ओर से मुझे खटका था; अब अपनी ही बदनीयती पर ख़ुद जलील हो रहा हूं. कसौटी ही सोने की परख बताती है; आप खरे सोने हैं. सेठजी, आप इनसान की शकल में फ़रिश्ते हैं."

सेठजी प्रशंसा सुन कर मुसकरा दिए. सुकर्म का हाथोंहाथ फल मिल गया.

. . .

कभीकभी छोटीछोटी बातों का भी बड़ा अनर्थकारी परिणाम होता है. यथार्थ में तथ्य कुछ नहीं होता किंतु बात का बतंगड़ बन जाता है. उस भीषण परिणाम का जब भंडाफोड़ होता है तो हंसी भी आती है और क्रोध भी.

श्यामू वैसे ही उछलताकूदता 'चल गई, पट्ठे! चल गई!' चिल्लाता हुआ अपने घर पहुंचा, जहां उसका बाप बड़ी बेचैनी से उसका इंतजार कर रहा था. उसने सुना था कि शहर में अभीअभी हिंदू मुसलमानों में चल गई है. अतः दुकान बंद कर के जब घर आया और श्यामू को ग़ायब पाया तो अत्यंत परेशान हुआ.

आखिर श्यामू जब घर आया तो उसके बाप ने छूटते ही एक चांटा रसीद किया और कहा, "कहां मर गया था! क्या बकता फिर रहा है—चल गई, चल गई!"

चांटा जो काफ़ी ज़ोर का पड़ा था, सहलाता हुआ श्यामू रुआंसा हो कर बोला, "दुअन्नी!"

"कैसी दुअन्नी!" बाप ने तेज़ हो कर पूछा.

श्यामू ने धीरे से कहा, "एक खोटी दुअन्नी थी..."

"एं!"

"हां, वह माल के बाजार में काशी हलवाई की दुकान पर चल गई."

++

शकुंतला

मुकुलप्रभात केदार

श्री मुकुलप्रभात केदार (केदारनाथ घोलाटी) का जन्म सन १९०६ में स्यालकोट में हुआ था. पहले आपकी रुचि उर्दू भाषा में थी. फिर हिंदी की ओर झुकते गए और अब तक आपकी बारह कहानियां प्रकाशित हो चुकी हैं. एक गद्यगीत संग्रह 'अधखिले फूल' १९३५ में प्रकाशित हुआ है.

सहशिक्षा के पक्षपाती न होते हुए भी मास्टर रामलाल ने अपनी पुत्री शकुंतला को स्थानीय कालिज में दाखिल कर ही दिया, क्योंकि उनकी आर्थिक स्थिति ऐसी नहीं थी कि वह उसे बाहर के किसी गर्ल्स कालिज में भेज सकते.

कालिज के नवीन स्वतंत्र वातावरण में श्वास ले कर भी उस में चंचलता पैदा न हुई और न उच्छृंखलता ही आई. वह कालिज में स्वच्छंद रूप से घूमती, सब से मिलतीजुलती और अवसर पड़ने पर बातचीत भी करती, परंतु सदा औचित्य के भीतर रह कर. अपनी मर्यादा का उसने कभी उल्लंघन नहीं किया. सामाजिक बंधनों से निकल आधुनिक पश्चिमी ढंग की शिक्षा का प्रकाश पा कर भी उसकी श्यामल आंखों में भारतीय ललना की स्वाभाविक लज्जा बनी रही.

शकुंतला धीरेधीरे यौवन के आंगन में पैर रख रही थी. विकसित होते हुए लावण्य से उसके मुखमंडल की कांति में हलकी लालिमा फैल गई थी. यौवन गरिमा भार से उसके हृदय का स्पंदन कुछकुछ तेज हो गया था और उसके चमकते हुए बड़ेबड़े नयनों में बसंत की भीनीभीनी मादकता सी छाने लगी थी. शकुंतला अब अर्द्धविकसित कली थी जिस में सौंदर्य था, सुषमा थी, माधुर्य था और थी सुगंध और सुकुमारता.

पुरानी भारतीय संस्कृति के प्रति शकुंतला का अनुराग अनन्य भाव से बना रहा. उसने स्कूल में संस्कृत ली थी. कालिज में भी उसने संस्कृत ही ली. कोर्स में कालिदास का 'शकुंतला' नाटक था. शकुंतला ने आठवीं कक्षा में पहली बार हिंदी में शकुंतला की कहानी पढ़ी थी, जिसकी उसे अभी तक धुंधली सी याद थी. परंतु संस्कृत के मौलिक ग्रंथ में महाकवि कालिदास के मधुर शब्द विन्यास, सरस भाषा, सुंदर शैली, अलौकिक कल्पनाओं और ऊंची उड़ानों ने उसके हृदय और मस्तिष्क को

सोचने लगती. उसे लगता मानो कालिदास की शकुंतला अपने समय की स्त्री जाति की प्रतिनिधि थी. एक साधारण रमणी की तरह ही ऋषि के आश्रम में एक अपरिचित आगंतुक से उसने प्रेम किया, और उसे निभाया भी. अपने कृत्य को उसने छिपाया नहीं. महामुनि कण्व ने सुना तो प्रसन्न हो कर उसे आशीर्वाद दिया.

शकुंतला ने सोचा वह भी तो शकुंतला है. क्या इस युग में अब कोई दुष्यंत जन्म नहीं लेता? क्या वैसा ही साहसी और तेजस्वी युवक उसके जीवन में प्रविष्ट नहीं हो सकता? क्या उसे भी अपने गुरुजनों का आशीर्वाद प्राप्त नहीं हो सकता? यह सोचतेसोचते शकुंतला मानो एक नूतन सुनहरे संसार में विचरने लगती; उसके लोचनों में सचमुच जैसे प्रेम का मद छा जाता और वह आत्मविभोर हो कर मन-ही-मन नाच उठती.

कुछ ही दिन बाद शकुंतला के जीवन में सचमुच ही एक दुष्यंत ने प्रवेश किया. रमेश उसी के कालिज में बी. ए. का विद्यार्थी था. उसने भी संस्कृत ले रखी थी. वह अपने पिता शंभुदयाल का इकलौता लड़का था. उसका घर शकुंतला के घर के पड़ोस में ही था. शकुंतला को परीक्षा के निकट संस्कृत में कुछ सहायता की आवश्यकता अनुभव हुई. वह एकदो बार पिता की अनुमति से रमेश के घर जा कर उस से समझ आई. धीरेधीरे यह क्रम बढ़ गया.

एक दिन जब शकुंतला कालिदास के शकुंतला नाटक पर रमेश से आलोचना सुन रही थी, तो रमेश के ओजस्वितापूर्ण चेहरे में एकाएक उसे अपने दुष्यंत का आभास होने लगा. वह स्वयमेव रमेश की ओर आकर्षित हो गई. उसे ऐसा लगा जैसे रमेश ही उसके स्वप्नमंदिर का इष्टदेव है और वह चिरकाल से उसी की पूजा करती आई है.

रमेश ने भी दुष्यंत का प्रारंभिक पार्ट पूरापूरा अदा किया. पुरुष स्वभाव से ही यौवन काल में विनोदप्रिय होता है. दुष्यंत वन में आखेट

खेलने गए थे और उन्हें मिली शकुंतला सी प्रेमविभूति. रमेश भी शिकार खेल रहा था और उसे भी मिली शकुंतला के रूप में आदर्श प्रेमिका. मौन संकेत और मधुर भाषण से दोनों ओर की प्यास और भी तीव्र हो गई. वे एकदूसरे से मिलने, एकदूसरे में खो जाने और एक होने के लिए व्याकुल हो उठे.

एक दिन शाम को रमेश शकुंतला के घर गया. शकुंतला के घर आनेजाने में उसे पूरी स्वतंत्रता थी. रमेश सीधा शकुंतला के कमरे में पहुंचा. शकुंतला अभीअभी नीचे से ऊपर आई थी और खिड़की में खड़ी पश्चिम में डूबते हुए सूर्य का सुंदर दृश्य निहार रही थी. आकाश के अंतिम छोर पर फैली हुई लालिमा की मंद आभा उसके कपोलों पर प्रतिबिंबित हो उसके लावण्य को उभार रही थी. रमेश द्वार पर खड़ा कई मिनिट तक शकुंतला के उस दिव्य रूपरस का पान करता रहा.

सूर्य के अपना केसरी आंचल समेट कर विदा हो जाने पर शकुंतला का स्वप्न टूटा. वह दरवाजे के पास विजली का स्विच दबाने के लिए मुड़ी तो रमेश को खड़ा देख कर कुछ चौंक पड़ी. उसने समझा कि रमेश चिरकाल से खड़ा उसकी ओर देख रहा है. शकुंतला के मुखमंडल पर संध्या के उस श्यामल अंधियारे में भी लज्जा की अरुणाई प्रस्फुटित हो उठी.

रमेश अपने सम्मुख सौंदर्य सागर को हिलोरें लेते देख अपना मानसिक संतुलन खो बैठा. भावावेश में आगे बढ़ कर उसने शकुंतला का हाथ पकड़ते हुए कहा, "शकुन, आज तो मानो प्रकृति की सारी सुषमा आ कर तुम में समा गई है."

लज्जा के भार से झुके हुए दृग ऊपर उठा कर शकुंतला ने देखा, तो रमेश की आंखों में उसे अपने जीवन की मधुर कल्पना सजीव रूप में नाचती हुई दृष्टिगोचर हुई. वह भी अपने को भूल गई. अपना मुंह रमेश के वक्षस्थल पर रख कर उसने धीरे से कहा, "रमेश! नहीं, दुष्यंत!" और इसके बाद वे एकदूसरे में खो गए.

शकुंतला रात भर सुनहरी कल्पनाओं के झूले में झूलती रही. प्रातःकाल शीतल पवन के मंदमंद झोंकों से पिछली रात की मादकता जब कुछ कम हुई, तो वह अनायास ही किसी भावी अमंगल की आशंका से सिहर उठी. परंतु मां के पुकारने पर वह उसे भूल नीचे चली गई.

परीक्षा समाप्त हो चुकी थी. रमेश परिणाम की प्रतीक्षा कर रहा था. इस बीच में ही उसने इंडियन एयर फ़ोर्स में भरती होने के लिए अर्ज़ी भेज दी थी. युद्ध जारी होने से इस विभाग का विशेष आदर था. साहसी युवक उस में भरती होना अपना गौरव समझने लगे थे. रमेश को अगले दिन स्वीकृति और शीघ्र पूना में उपस्थित होने का पत्र मिला. रात की घटना जैसे वह भूल गया था. दोपहर का खाना खाने के बाद वह पत्र ले कर शकुंतला के घर पहुंचा.

शकुंतला अपने कमरे में लेटी हुई अधखुली आंखों से छत पर चित्रित फूल और पत्तियों के बीच अपने भविष्य का सुनहरी जाल बुन रही थी. उसी तरह लेटेलेटे ही मद भरे नयनों से उसने रमेश का स्वागत किया. रमेश मुसकराया और सरकारी पत्र शकुंतला के हाथ में देते हुए बोला, "मुझे आज ही पूना के लिए रवाना होना है. क्या करूं विवश हूं. जाने की इच्छा नहीं होती, परंतु मेरे भविष्य का प्रश्न है." फिर शकुंतला की आंखों में जैसे कुछ ढूंढ़ते हुए उसने कहा, "मैं वहां जाते ही तुम्हें पत्र लिखूंगा और अपना पता भी." इसके आगे कहने की उसने कुछ आवश्यकता अनुभव नहीं की.

शकुंतला सब कुछ सुनती रही. उसका ध्यान कालिदास की परित्यक्ता शकुंतला की तरफ़ घूम गया. उसे ऐसा लगा जैसे अपने जीवन नाटक को पूरा करने के लिए विरह के ताप में कुछ दिन जलना उसके लिए भी अवश्यंभावी है. उसने सोचा सच्चा प्रणय विरह की आग में ही जल कर चमकता है.

"मिलन के बाद इतने शीघ्र ही वियोग का आघात सहना होगा, यह तो स्वप्न में भी नहीं सोचा था. परंतु, रमेश, हृदय में प्रेम की ज्योति

जला कर कहीं फिर अंधकार में ठोकरें खाने के लिए तो मुझे नहीं छोड़े जा रहे हो?" उसने रमेश के नेत्रों में झांकते हुए पूछा.

रमेश ने शकुंतला के पास बैठते हुए कहा, "शकुन, पगली हुई हो क्या?"

शकुंतला ने अधरों पर मंद मुसकान लिए उत्तर दिया, "इस में भी अभी तुम्हें कुछ संदेह है?"

रमेश ने फिर कहा, "शकुन, क्या मुझ पर तुम्हें विश्वास नहीं?"

शकुंतला खिलखिला कर हंस पड़ी और बोली, "पुरुष जाति पर विश्वास करना कठिन सा लगता है."

रमेश ने अपनी उंगली से अंगूठी उतारी और शकुंतला की उंगली में पहनाते हुए कहा, "यह मेरा स्मृतिचिह्न तुम्हारे मन को सदा बहलाए रखेगा."

शकुंतला का ध्यान एक बार फिर दुष्यंतप्रदत्त अंगूठी पहनी हुई कालिदास की शकुंतला की तरफ़ गया. उसने अपने कोमल अधरों से अंगूठी चूम ली.

एक मास बीत गया पर रमेश का न कोई पत्र आया और न उसने अपना पता ही लिखा. शकुंतला का मन व्याकुल होने लगा, परंतु मन को यह समझा कर उसने ढाढ़स दिया कि नया काम और नई नौकरी है, अवकाश नहीं मिला होगा. दूसरे मास की समाप्ति पर अपनी मानसिक और शारीरिक अवस्था में कुछ परिवर्तन होते देख अपने संबंध में उसे संदेह सा हुआ. तीसरा महीना आधा व्यतीत होतेहोते तो स्पष्ट लक्षण दिखाई देने लगे. वह एकदम घबरा गई. एक दिन विवश हो कर उसे मां से सब हाल कहना ही पड़ा. मां के पैरों तले की मिट्टी सरक गई. पिता ने सुना तो सिर पकड़ कर बैठ गए. मां ने कहा, "अभागिन!" पिता बोले, "पापिन!"

परंतु इतना कह देने से ही मातापिता के सम्मुख उपस्थित

समस्या का हल न हुआ. वे गहरी चिंता में पड़ गए. बहुत विचारने के बाद उनकी समझ में एक ही उपाय आया. मास्टर रामलाल शंभुदयाल के पास पहुंचे. शोक से अति आतुर और मन-ही-मन डरते हुए उन्होंने उनके कमरे में पैर रखा. भीतर पहुंच कर भी करुणा की मूर्त्ति बने चुप-चाप बैठे रहे.

शंभुदयाल ने ही मौन तोड़ा और आने का कारण पूछा. मास्टर रामलाल ने सिर से टोपी उतार कर उनके पैरों में रख दी और गिड़-गिड़ाते हुए बोले, "मेरी लाज आपके ही हाथ में है."

उनकी बात शंभुदयाल के लिए पहेली की तरह थी. मास्टर रामलाल के सब बात स्पष्ट बताने पर वह जैसे नींद से चौंक पड़े और अपने सामने उन्होंने सचमुच ही एक विकट समस्या उपस्थित देखी.

शंभुदयाल को मास्टर रामलाल से पूरी सहानुभूति थी, और उस से भी अधिक शकुंतला के रूपगुणों को देख कर उस पर उन्हें ममता सी हो गई थी. परंतु तीन मास का गर्भ रखने वाली शकुंतला को पुत्र-वधू के रूप में अपने घर लाना उनकी कल्पना से बाहर की बात थी. मानव प्रकृति के अनुसार उच्च शिखर से एक बार गिर जाने पर उनकी विचारधारा नीचे की ओर बहने लगी. कौन जाने यह गर्भ किसका हो? अपने लड़के पर संदेह करने के लिए उन्हें कोई कारण न मिला, और सच तो यह है कि संदेह करना उनके मन ने पसंद ही नहीं किया.

मास्टर रामलाल ने बतलाया था कि जब से रमेश गया है उसने वचन दे कर भी शकुंतला को कोई पत्र नहीं लिखा, न अपना पता ही भेजा. शंभुदयाल को विश्वास हो गया कि अवश्य ही शकुंतला का किसी और से संबंध होने के कारण रमेश ने निराश हो कर उसका ध्यान छोड़ दिया, और पूना जा कर उसे पत्र लिखना और पता भेजना भी अनुचित समझा. शंभुदयाल के हृदय में सहानुभूति का स्थान घृणा ने ले लिया.

तिरस्कार सूचक स्वर में उन्होंने कहा, "मास्टरजी, पराए

को मैं अपने घर में कैसे आश्रय दे सकता हूं? मुझे भी तो अपनी लोक-लाज और मर्यादा की रक्षा करनी है."

मास्टर रामलाल घर लौट आए. वह लंबी आहें भरते रहे और उनकी पत्नी आंसू बहाती रही. एक सप्ताह के बाद मास्टर रामलाल स्कूल से छः मास की छुट्टी ले कर पत्नी और पुत्री सहित अपने पैतृक गांव दौलतपुर को रवाना हो गए.

शकुंतला ने अपने कारण मातापिता को दुख और क्लेश में पड़े देखा तो चिंतित हो उठी. परंतु उसकी आत्मा ने यह स्वीकार न किया कि उसने कोई पाप किया है. रमेश के प्रति उसका अब भी प्रेम और विश्वास बना था. प्रायः मनुष्य निराश हो कर भी आकाश में उड़ते हुए ऊदे बादलों की कोरों पर आशा की रजत रेखाएं देखता है. शकुंतला ने सब कुछ प्रत्यक्ष देख कर भी भीतर के विश्वास को अपने संतोष का सहारा बनाए रखा.

गांव जाते हुए मार्ग में एक नदी पड़ती थी. शकुंतला ने उंगली से अंगूठी उतारी और नदी के जल में फेंक दी मानो कालिदास की शकुंतला के अभिनय की पूर्ति कर रही हो.

उधर रमेश पूना में एक दूसरा ही अभिनय खेलने में संलग्न था.. पूना के एरोड्रोम में जहां रमेश ट्रेनिंग ले रहा था, मिस रोजबरी रेडियो आपरेटर का काम करती थी. उसके रूपलावण्य पर निखार आ रहा था, और इसके साथ ही उस में थी एंग्लोइंडियन लड़कियों की स्वाभाविक फुरती और चपलता. रमेश उसके प्रेमजाल में फंस गया. उसके प्रेम में वह अपने को भूल गया. शकुंतला को भूल गया, भूल गया शकुंतला को उपहार रूप में दी हुई अंगूठी और पत्र लिखने का अपना वचन. आधुनिक दुष्यंत मानो शापग्रस्त हो अपने कर्त्तव्य से विमुख हो गया.

परंतु कालिदास के दुष्यंत के कर्त्तव्यविमुख होने में शकुंतला की असावधानी दुर्वासा के क्रोध का कारण हुई थी, और वर्तमान दुष्यंत अपने

स्वार्थ की पूर्ति के लिए निरंकुश हो उठा था. उस दुष्यंत और इस दुष्यंत में उतना ही अंतर था जितना एक बालक की निर्दोष मुसकान और एक दानव के अट्टहास में होता है.

शकुंतला का दुर्भाग्य था कि कालिदास की शकुंतला का अनुकरण और अभिनय करते हुए भी उसे न तो कण्व जैसा पिता व गुरु मिला जो उसके एकनिष्ठ प्रणय पर प्रसन्न होता और उसे आशीर्वाद देता, और न ऐसी सखियां ही मिलीं जो विरह के दुख में उसे साहस बंधातीं. न आश्रम का वह वातावरण ही था जिस में रह कर वह प्यार और आदर पाती. न इस युग में ऐसी कोई मछली ही रही, जो उसके स्मृतिचिह्न के रूप में मिली हुई अंगूठी को निगल लेती या संभवतः ऐसे चतुर माहीगीरों का ही अभाव हो गया था, जो अंगूठी निगल लेने वाली मछली को पकड़ पाते और शकुंतला के दुर्भाग्य को पलट देने का कारण बनते.

इसकी अपेक्षा बेचारी आधुनिक शकुंतला सबकी घृणा का पात्र बन गई. उसे मिले ऐसे मातापिता जिन्होंने उसके पावन प्रणय प्रदर्शन पर सिर धुन लिया और जी भर कर उसे कोसा. उसे मिले ऐसे गुरुजन जिन्होंने धर्म की वेदी पर बैठ कर उस पर लांछन लगाए. उसे मिले ऐसे पड़ोसी और संबंधी जो राह चलते उस पर उंगली उठाते और आवाजें कसते. और सब से बढ़ कर उसे मिला ऐसा समाज जिसने उस पर कलंक आरोपित कर उसे बहिष्कृत और निराश्रित कर दिया.

शकुंतला के मन की आशालता धीरेधीरे कुम्हलाने लगी और उसके साथ ही मातापिता के तिरस्कार, संबंधियों के व्यंग्यबाणों और अड़ोसपड़ोस वालों की पैनी दृष्टियों के कारण उसकी व्यग्रता बढ़ने लगी. अंत में उसके धैर्य का बांध टूट गया. एक दिन वह अकेली ही चुपचाप घर से निकल पड़ी.

दो दिन की रेलयात्रा के बाद रात के दस बजे पूना पहुंची. स्टेशन से टांगा ले कर सीधी एरोड्रोम गई. वहां पहरेदारों से पता ल कर रमेश के क्वार्टर में पहुंची, और टांगेवाले को बिदा कर ...

अहाते में घुस गई. एक बड़े बरामदे को लांघ कर वह कमरे के निकट पहुंची. कमरे में बिजली का प्रकाश हो रहा था. द्वार बंद था परंतु खिड़की, कदाचित कुछ गरमी होने के कारण, खुली थी और उस में लटक रहा था हलके नीले रंग का रेशमी परदा.

शकुंतला के मन में आशा की एक धुंधली रेखा अब भी अंकित थी. उसने धीरे से खिड़की का परदा थोड़ा हटा कर भीतर झांका. जो दृश्य उसने देखा उस पर उसे एक बारगी विश्वास नहीं हुआ. उसने एक बार फिर नेत्र फाड़ कर देखा और उसके बाद देखने की उसे चाह नहीं रही. घृणा से मुंह फेर कर जिस मार्ग से आई थी उसी मार्ग से रात होने पर भी वह अकेली लौट पड़ी.

दो दिन की रेलयात्रा के बाद वह नदी के उसी स्थान पर पहुंची जहां पर उसने रमेश के प्रेमोपहार को हृदय में आशा लिए हुए जल में फेंका था. आज वह उसके प्रणय को ही जलविसर्जन करने की प्रबल आकांक्षा लिए वहां पहुंची थी. कुछ क्षण वह बहते हुए पानी की धारा की तरफ़ देखती रही. धम की हलकी ध्वनि हुई और एकदो डुबकियां ले कर शकुंतला गहरे जल में डूब गई, और उसके साथ ही डूब गया उसका प्रणय, आधुनिक दुष्यंत का प्रेमप्रसाद और वर्त्तमान समाज की दृष्टि में दोनों का घोर कलंक.

विधि की विडंबना! कालिदास की शकुंतला और आधुनिक शकुंतला—दोनों एक ही स्वच्छ स्रोत से निकल कर एक ही सुंदर स्वर्ण भूमि पर साथसाथ बह कर भी बिछुड़ गईं, और ऐसी बिछुड़ीं कि जहां पहली मंदाकिनी के रूप में बहती और प्राचीन संस्कृति के महाक्षेत्र को परिप्लावित करती हुई मानव कल्याण के सागर में विलीन हुई, वहां दूसरी कलंकित और लांछित हो कर, सबके द्वारा ठुकराई जा कर और समाज के विकृत स्वरूप का शिकार बन कर आत्मग्लानि की मरुभूमि में खो गई.

आधुनिक शकुंतला का अभिनय सजीव होते हुए भी उसका जीवननाटक एक तरह से अधूरा ही रहा. शकुंतला का पावन प्रणय तिरस्कृत और पददलित हो कर रह गया. समाज के निर्दय हाथों ने एक नवकोपल को प्रस्फुटित होने से पूर्व ही, पैरों तले रौंद डाला. मां बनने की नारी की महानतम साध को निष्ठुरतापूर्वक कुचल दिया गया. उसके परिणामस्वरूप संसार को वर्तमान युग में एक सुंदर सुगंधित सुमन और भरत जैसी अमूल्य निधि से वंचित रहना पड़ा. क्या आज के समाज की यह भारी क्षति उसके अपने अन्याय और अत्याचार का ही कठोर दंड नहीं है?

✦✦

जीने का सहारा

लीला प्रकाश

श्रीमती लीला प्रकाश का जन्म सन् १९१८ में मेरठ में हुआ था. बी. ए. तक शिक्षा प्राप्त करने के बाद आपका विवाह हो गया. कहानियां और स्त्री उपयोगी लेख लिखे हैं, जो पत्रपत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे हैं. दो पुस्तिकाएं 'बुनाई के नमूने' और 'नई बुनाई' प्रकाशित हो चुकी हैं.

जनवरी, १६३८.

कितना कहती हूं पर कोई समझता ही नहीं. पता नहीं क्यों मां भी मेरी बात नहीं समझ पातीं. कहती हैं अगर किसी और को पसंद करती हो तो बताओ वहीं बात करें. पर मैं उन्हें कैसे बताऊं कि मैं शादी ही नहीं करना चाहती.

उनका कहना है यदि लड़के में कोई खराबी हो तो बताओ, नहीं ऐसे कैसे शादी तोड़ दी जाए. पर मैं उन्हें कैसे समझाऊं कि मेरे मन में जीवन के प्रति कोई उत्साह नहीं रहा. इसका कारण क्या है, यह भी मैं नहीं समझ पाती.

कदाचित इतनी उमर तक केवल पुस्तकों तथा अध्ययन में ही लिप्त रहने से विवाह, घर, बच्चे---इन प्रश्नों पर कभी ध्यान ही नहीं गया और अवस्था के साथसाथ जीवन में न जाने कैसी नीरसता आ गई है कि कुछ भी अच्छा नहीं लगता. किसी बात की इच्छा नहीं होती.

इतना शून्य मन, इतना शुष्क हृदय ले कर क्या मैं किसी का जीवन सुखी कर सकूंगी? मुझे विश्वास नहीं होता. भगवन, मैं क्या करूं? मेरे साथ एक निर्दोष व्यक्ति का जीवन क्यों नष्ट हो.

मैं जानती हूं वह बहुत अच्छे हैं. उन में कोई भी अवगुण नहीं है, पर मैं यह भी जानती हूं कि मैं उनके सर्वथा अयोग्य हूं. उनको कई बार देखने का अवसर मिला है. वह कितने सरलहृदय मालूम पड़ते हैं, कितने हंसमुख हैं. क्या विवाह होने पर उनकी यह हंसी चिरस्थायी हो सकेगी? मेरी मानसिक अशांति, मानसिक विप्लव व मानसिक क्रांति की लपटों में वह झुलस तो न जाएगी? उफ़, मां को कैसे समझाऊं!

विवाह के बस दो ही महीने हैं. जीजी को लिखा है कि वह

यदि कुछ कर सकें तो करें, शायद वही मां को समझा सकें कि मैं विवाह ही नहीं करना चाहती. यह अंतिम प्रयास है--देखें जीजी भी कुछ करती हैं या औरों की तरह वह भी धोखा देती हैं. यदि उनकी ओर से निराश होना पड़ा तो? उफ़, न जाने क्या होगा!

फ़रवरी.

सभी प्रयास विफल हुए. जीजी भी औरों की तरह ही निकलीं. क्या पड़ी है किसी को किसी के जीवन के बननेबिगड़ने की. उफ़, बड़ी वेदना है! जीजी से बड़ी आशा थी पर उन्होंने तो कुछ करने के बजाए मुझे ही समझाया है.

लिखती हैं, "शादी के बाद सब ठीक हो जाएगा. विवाह से पहले प्रत्येक लड़की ऐसा ही महसूस करती है." इतना साथ रहने पर भी वह अभी तक मेरा स्वभाव नहीं समझ पाईं, फिर भला एक अजनबी व्यक्ति मुझे कैसे समझेगा?

कहती हैं, "विवाह एक पवित्र बंधन है जो भगवान के ही यहां से बन कर आता है." यह भी उन्हीं दक़ियानूसी ख़्यालों की निकलीं. क्यों मैंने इन पर इतना भरोसा किया? क्यों अपना समझा? यह मेरी बहन नहीं शत्रु निकलीं.

छीः छीः! यह मैं क्या सोच गई, भगवान! मैं तो पागल हो जाऊंगी, मुझे बचाओ, कितनी अशांति भर रही है मन में. मुझे साहस दो, भगवान, कि मैं संसार की वास्तविकता का साहसपूर्वक सामना कर सकूं. अब मैं चुप रहूंगी—भाग्य पर भरोसा कर के बैठ रहूंगी. जो होना है होगा.

किंतु मन तो यह तर्क नहीं मानता. विद्रोह कर ही उठता है. भगवान में भी विश्वास नहीं होता. यदि सच ही भगवान होते तो क्या मेरे साथ इतना अन्याय, इतनी जबरदस्ती वह देख सकते? नहीं, भगवान कहीं नहीं है, वह सच ही पत्थर हैं. पर अब नहीं सोचूंगी, सोचते-

सोचते तो शायद पागल हो जाऊंगी.

मार्च.

अब शादी के कुछ दस दिन रह गए हैं. जीजी भी आ गई हैं. वह चाहती हैं बात करें. मेरी इच्छानुकूल कुछ कर सकने की असमर्थता पर अपनी सफ़ाई दें, पर मैं नहीं चाहती कि वह मुझे अब मौखिक सहानुभूति दें. वह तो सभी से मिल सकती है. देखना है भाग्य में क्या लिखा है.

अब तो मैं सभी कुछ दूसरे ही ढंग से सोचने लगी हूं. वह इतने अच्छे हैं, संभव है मैं उनके स्नेह की छाया में शांति पा सकूं, विश्राम पा सकूं. पर मैं तो चाहती थी कि अविवाहित रह कर मानव जाति के, देश के हित के लिए कुछ कर सकूं. क्या अब यह संभव हो सकेगा? मुझे संदेह है.

सुना है उनकी ही पसंद से यह शादी हो रही है. क्या वह सच ही मुझे पा कर खुश होंगे? क्या वह मुझे अपने व्यक्तित्व से प्रभावित न कर सकेंगे? जीजी मुझे न जाने क्याक्या समझाना चाहती हैं, पर मेरा तो उनकी बातों में मन नहीं लगता. ये सब लोग केवल अपने ही मन में लिप्त रहने वाले हैं. उन से कुछ आशा करना ही व्यर्थ है. ये सभी दुनियादारी से भरे हुए कार्य हैं. किसी के सहज भावों को नहीं समझ सकते. अब तो उन्हीं का भरोसा है. देखें तक़दीर क्याक्या खेल दिखाती है.

मार्च, अप्रैल.

विवाह हो गया है. वह बहुत खुश मालूम पड़ते हैं. और मैं? मुझे तो कुछ भी महसूस नहीं होता कि मैं खुश हूं या नहीं. हां, इतना है कि मन पहले की तरह अशांत नहीं है.

वह सच ही बहुत अच्छे हैं. मुझे लगता है मैं उन्हें शायद

बहुत प्यार करने लगूंगी. लेकिन फिर मैं अपने उद्देश्य को पूरा कर सकूंगी? मैं नहीं समझ पाती कि घरगृहस्थी, बालबच्चों के बीच में ठीक से देश, समाज या मानव के हित के लिए कुछ कर सकूंगी.

जीजी का कहना है, "स्त्री का पहला कर्त्तव्य है अच्छी पत्नी, अच्छी गृहिणी तथा अच्छी मां बनना." पर क्या इतने ही में उसका कार्यक्षेत्र सीमित रहना चाहिए? इसी प्रकार के विचारों ने तो नारी को केवल घर की चहारदीवारी में बांध रखा है. "हमारी यही संस्कृति है," कह कर वे कुछ भी करने के अयोग्य रह जाती हैं. घर से बाहर निकल कर कुछ कर सकने की उन में क्षमता ही नहीं रह जाती.

सब से अधिक दुःख तो तब होता है जब पढ़ीलिखी लड़कियां भी इस प्रकार के विचारों का समर्थन करने लगती हैं. ख़ैर, किसी के कहने से क्या होता है. मुझे आशा है कि वह मेरे विचारों का मूल्य समझते हैं और निश्चय ही मुझे मेरे लक्ष्य पर पहुंचने देंगे. इतना ही नहीं मेरी सहायता भी करेंगे. मैं निश्चय ही देश के लिए कुछ कर सकूंगी.

मई.

आज इनके नाम जीजी का पत्र पढ़ कर तनबदन में आग लग गई. यह मेरी बहन हैं! एक समय था जब यह कहती थीं, "तुझ से बढ़ कर मुझे कोई प्रिय नहीं है. तू मेरी बहन ही नहीं, सखी भी है." और आज मेरे विरुद्ध षड्यंत्र रचना चाहती हैं!

इन्हें न जाने कैसे मालूम हो गया कि मैं शादी के बहुत खिलाफ़ थी पर मेरा स्वभाव वह समझ गए हैं. मुझ पर कोई भी अपना प्रभाव नहीं डाल सका है, ऐसी ही मेरी धारणा रही है. हालांकि मेरे इस विचार में बहुत परिवर्तन हुआ है और मुझे भय है कि अभी और होगा.

मैं इनके व्यक्तित्व से बहुत प्रभावित हुई हूं. मुझे डर है कि

किसी दिन सच ही मैं इन में इतना घुलमिल जाऊंगी कि अपना अस्तित्व भी खो दूंगी, मेरी अपनी कोई सत्ता ही न रहेगी. हां, तो क्या कह रही थी? जीजी का पत्र आया है.

इन्होंने शायद जीजी को लिखा था, "मैं उसके विचारों का आदर करता हूं. हमारे यहां प्रत्येक लड़की के विचार यदि ऐसे हो हों तो देश का कितना हित हो सकेगा. यदि मैं पहले जानता तो उसे विवाह के बंधन में न बांधता.

"मैं उसे चाहता अवश्य था पर अपने उसी प्रेम के बल पर मैं इतना त्याग भी तो कर सकता था. यदि, मुझे मालूम हो गया होता तो मैं विवाह के लिए तब तक रुका रहता जब तक उसको खुद की इच्छा न होती. कभीकभी मेरा मन बहुत उदास हो जाता है. आपने पूछा, मैं विवाह से प्रसन्न हूं? इसका मैं क्या उत्तर दूं? प्रसन्न भी हूं और नहीं भी. कारण ऊपर कह चुका हूं."

इसके उत्तर में जीजी ने लिखा है, "वह अबोध है, अज्ञानी है. तुम कुछ चिंता न करो. तुम दोनों का निर्माण एकदूसरे के लिए ही हुआ था, ऐसा मेरा विश्वास है. धीरेधीरे उसे तुम्हारे प्रति अपने कर्तव्य का ज्ञान होगा.

"और प्रेम? प्रेम की बात कहना व्यर्थ है. पहले तो पतिपत्नी का संबंध ही इतना पवित्र बंधन है कि वह स्वयं ही उसे सब सिखा देगा. फिर तुम इतने अच्छे हो कि वह तुम्हें प्यार किए बिना रह ही न सकेगी.

"मैं उसका स्वभाव जानती हूं. वह ऊपर से अपने को जितना कठोर, नीरस, भावुकतारहित प्रकट करती है, भीतर से वह उतनी ही कोमल, सरस तथा भावुक है. दुख यही है कि वह अपने मन की इन सुकोमल भावनाओं को स्वयं ही नहीं समझती है.

"एक बात और लिखती हूं. जब तुम्हारे घर में एक नन्हा शिशु आ कर अपनी किलकारियों से घर को भर देगा, तब तुम देखना

उस में कितना परिवर्तन होगा. मातृत्व का रूप ही उसका सब से सुंदर रूप होगा और तुम दोनों का जीवन अपने सुख की पराकाष्ठा पर होगा. उसे प्यार करना."

खूब रही! शादी होते देर नहीं हुई, इन्हें बच्चों की भी सूझने लगी. क्या दुनिया है! दूसरे को सताने में ही लोगों को मज़ा मिलता है. क्या पड़ी है जीजी को अब हमारे बीच में कुछ कहने की. मुझे तो अब जीजी के प्रति मन में कुछ भी आदर नहीं रह गया. किसी के बीच में पड़ने की जीजी की बुरी आदत शायद कभी न छूटेगी.

जून.

उफ़! यह क्या हुआ, जिस बात की कल्पना भी नहीं की थी वही हो गया. इधर कुछ दिनों से तबीअत भारी लगती थी. सातआठ दिन हुए तब मां ने कारण समझाया. मेरे तो पैरों तले से ज़मीन खिसक गई. एकांत में जा कर खूब रोई.

इतने शीघ्र मां बनने के लिए तो मैं कभी तैयार न थी. यह भगवान ने कैसी सज़ा दी—दम घुटने लगता है सोच कर. यह पैरों में बेड़ियां भगवान क्यों डालना चाहते हैं? किसे दोष दूं इस सबके लिए? प्रारब्ध जब खराब हो तो कोई क्या करे?

आजकल कुछ भी अच्छा नहीं लगता. मन बड़ा उद्विग्न रहता है. वह भी मुझे उदास देख कर दुखी हो उठते हैं. उनकी उदासी से मेरा मन और भी खिन्न हो जाता है. पर क्या करूं मैं अपने भावों को छिपा भी नहीं पाती.

कितना प्रयत्न करती हूं कि खुश दिखाई दूं पर असफल ही रहती हूं. वह मुझे हर प्रकार से प्रसन्न रखने के प्रयत्न में लगे रहते हैं. सभी लोग मेरे प्रति इतने सदय हैं किंतु मैं क्या करूं! कितना चाहने पर भी खुश नहीं रह पाती.

वह कहते हैं मेरी खातिर ही खुश रहा करो. मैं भी चाहती हूं

वह मेरे इस परिवर्तन को लक्ष्य कर के बहुत प्रसन्न रहते हैं. नित्य ही नईनई चीजें ला कर उपहार में देते हैं. रोज सुबहशाम साथ घूमने जाते हैं. उस दिन कितनी सारी सब रंगों की ऊन ला कर डाल दी और छोटे बच्चों के लिए कोट वग़ैरह बुनने की कई किताबें.

मां भी कहती हैं, "कुछ करती रहा करो." मेरे लिए उन्होंने कितनी ही पुस्तकें भी ला कर रखी हैं. मेरा मन बहलाने के नित्य नए प्रयत्न करते रहते हैं. मेरा भी मन काफ़ी शांत है.

उन्होंने समझाया है, "कम-से-कम उस अबोध बच्चे के लिए ही खुश रहो. उसने तो कोई अपराध नहीं किया है. तुम्हारा अपराधी तो मैं हूं. मुझे जो चाहो सजा दे लेना, पर उसे तो ठीक से रहने दो. मैं तुम्हें विश्वास दिलाता हूं कि बच्चे का पालनपोषण मैं कर लूंगा और तुम जो चाहोगी वह करने को स्वतंत्र होगी."

मुझे इन शब्दों से बड़ा आश्वासन मिला है. वह बहुत ही अच्छे हैं. उनके विचार सच ही आदरणीय हैं और उनका हृदय अति कोमल है. कभीकभी इस बात से भी मन बड़ा उदास होता है कि मैं उनके अयोग्य हूं. वह कहते हैं कि मुझे पा कर वह खुश हैं पर मुझे तो लगता है कि किसी और लड़की से विवाह होने पर उनकी जिंदगी ज्यादा खुशी से भरी होती.

सितंबर.

दिन सभी के बीत जाते हैं, मेरे भी बीत ही रहे हैं; काफ़ी शांतिपूर्वक. अब शारीरिक कष्ट तो कोई विशेष नहीं है; हां, मानसिक उद्वेग तो रहता ही है. फिर भी काफ़ी अच्छी तरह समय बीत रहा है.

जीजी का पत्र आया है. वह दिसंबर में आएंगी. उन से तो कुछ भी आशा रखनी व्यर्थ है. अपने घर, अपने पति, अपने बच्चों से ही उन्हें छुट्टी नहीं मिलती. वह और किसी का ख्याल कैसे करेंगी. कहीं मैं भी न उनकी सी हो जाऊं.

अक्तूबर.

एक ही शहर में मायका और ससुराल—दोनों होने से लाभ भी है और हानि भी. उनकी मां ने अब अपने पास रहने को बुलाया है. वह नित्य ही यहां आते हैं और यह बात उनकी मां को पसंद नहीं. इनकी भी मरजी है कि मैं वहीं चल कर रहूं. मेरा मन तो वहां तनिक भी नहीं लगता. दोतीन बार साथ रहने से ही उन लोगों के स्वभाव से भली प्रकार परिचित हो गई हूं. क्या करूं जाना तो होगा ही, चाहे अच्छा लगे या बुरा. अपनी स्वतंत्र सत्ता ही न रही, बस दूसरों की इच्छा पर, दूसरों के इशारों पर ही नाचते रहो.

नवंबर, दिसंबर.

यह दो महीने जैसे बीते हैं भगवान ही जानता है. दिनरात ताने सुनतेसुनते कान पक गए हैं. मेरी तबीअत बहुत सुस्त रहने लगी है और कमजोरी भी बहुत हो गई है. मुझ से उठाबैठा भी नहीं जाता और वह ताने मारने से बाज नहीं आतीं. सास कहती हैं, "अनोखा इन्हीं के लड़का होने को है. हम लोगों को तो जैसे कोई तकलीफ़ उठानी ही नहीं पड़ी." यह सुन कर तिलमिला उठती हूं.

मेरे स्वभाव में एक दुर्बलता और आ गई है. मैं आजकल इन से बहुत बुरी तरह बोलने लगी हूं. कोशिश करने पर भी अपने को संभाल नहीं पाती; सारे दिन की खीझ और गुस्सा इन पर उतार देती हूं और यह हैं कि सब चुपचाप सह लेते हैं और उसी प्रकार प्रेम से पीठ सहलातेसहलाते मुझे शांत करने के प्रयत्न में संलग्न हो जाते हैं. यहीं पर मेरी हार हो जाती है.

कभीकभी तो मुझे इन से बहुत चिढ़ लगने लगती है. जब सोचती हूं मुझे इस हालत में पहुंचाने के लिए कौन सब से अधिक दोषी है, तब मेरा सारा क्रोध इन्हीं पर उतरता है. इस सबका क्या परिणाम होगा? कहीं मैं इन से घृणा तो नहीं करने लगूंगी? ओफ़! भगवान,

ऐसा न करना! नहीं तो दोनों की ही जिंदगी नरक हो जाएगी.

वह मुझे सच ही प्यार करते हैं. मैं भी उन्हें बहुत प्यार करने लगी हूं पर यह जो वातावरण की संकीर्णता है, इस से मेरा दम घुटता रहता है. मैं अब मां के पास जाना चाहती हूं. यह भी यही ठीक समझते हैं. जीजी भी आने वाली हैं.

यह जीजी के अनन्य भक्त होते जा रहे हैं. उनका कहना है कि जीजी ने ही इन्हें इतना सहनशील बने रहने का उपाय बताया है. क्या उपाय है---भगवान जाने. अब तो भगवान जल्दी ही छुटकारा दे.

जनवरी १९३९.

मां के पास आ गई हूं. जीजी भी आई हैं. वह मेरा बड़ा ख्याल रखती हैं. मुझे कभीकभी उनके प्रति कहे हुए अपने कटु शब्द, उनके प्रति अपना शुष्क व्यवहार याद कर के बहुत दुख होता है पर मैं अपने जिद्दी स्वभाव से लाचार हूं.

अब भी अकसर ऊटपटांग बातों को ले कर जीजी से बहस कर बैठती हूं. वह मुसकरा कर रह जाती हैं. क्या कहूं जीजी को मैं? कभीकभी उनके ऊपर स्नेह आता है पर कभीकभी क्रोध भी आता है जब वह मेरी बातों का मजाक़ उड़ाने लगती हैं.

कल कमरे में यह और जीजी बात कर रहे थे. जीजी कह रही थीं, "चिंता न करो, वह बड़ी पगली लड़की है. बेबी होने पर सब ठीक हो जाएगा. उसने केवल अपने ही बारे में सोचना सीखा है. इसी से वह दूसरों के बारे में सोच नहीं पाती. नारीसुलभ गुणों की उस में कमी नहीं है. एक बार मां बनने पर ही वह समझेगी कि नारी का क्या कर्त्तव्य है."

ठीक कहती होंगी. किंतु मुझे तो लगता है मैं जननी बनने के लिए नहीं जन्मी थी, मैंने तो कुछ और ही करने को जन्म लिया था, लेकिन मेरा कर्त्तव्य, मेरा लक्ष्य तो यों ही रह गया. देखो, शायद बच्चे

को जन्म देने के पश्चात कुछ कर सकूं. यों तो अब जीवन के प्रति उपेक्षा का भाव दृढ़ होता जाता है. जिसके लिए जीने का कोई उद्देश्य न हो, सहारा न हो, वह जी कर क्या करे!

जीजी मेरी इस बात पर हंस देती हैं, कहती हैं, "देखेंगे दो महीने बाद. तुझे एक बात बताऊं? मैं भी इसी प्रकार सोचा करती थी किंतु अब तू देखती ही है कि इन्हीं लोगों में मैं इतनी लिप्त रहती हूं." मैंने भी कह दिया, "यह तो तुम्हारी ही दुर्बलता है. तुम में दृढ़ता होती तो तुम सब कुछ छोड़ कर अपने लक्ष्य पर चलतीं." वह केवल हंस देती हैं.

मार्च.

अब मैं एक नन्हे शिशु की मां हूं और मैं इस बात से बहुत खुश हूं. ओह, पहली बार उसे अपनी गोदी में ले कर मुझे कितनी शांति का अनुभव हुआ था. अब जाना मां का हृदय कैसा होता है. न जाने आप-ही-आप उसके लिए कहां से इतना स्नेह, इतनी ममता, इतना प्यार भर आया है हृदय में.

कमरे में कोई नहीं था. मैंने सब ओर देख कर चुपके से अपने नन्हे के कपोलों को चूमना शुरू किया ही था कि एक दरवाजे से यह तथा दूसरे से जीजी आ गए.

"पकड़ी गई चोरी!" जीजी बोलीं. "छोड़ सकेगी इसे? तोड़ सकेगी इस ममता और स्नेह के बंधन को? अब आया समझ में? इसे पालपोस कर बड़ा कर के देश के लिए दे कर क्या तू देश का कल्याण नहीं कर सकेगी?"

"मुझे माफ़ करो, जीजी, मैं सच ही बड़ी अबोध थी." उनकी आंखें भरी थीं. उन्होंने बच्चे को प्यार किया और बाहर चली गईं.

"तुम भी मुझे क्षमा कर दो," यह बोल उठे.

"किस लिए?" मैंने लज्जा से दृष्टि नीचे किए ही पूछा.

शिशु की ओर इशारा कर के यह बोले, "इस ग़लती के लिए."

मैंने अपना हाथ इनके मुख पर रख दिया. "ऐसा न कहिए. यह हमारी ग़लती नहीं है, हमारे जीवन का सहारा है. आप मेरे सारे अपराध क्षमा कर दीजिए. मुझ में जो कमी थी वह अब दूर हो गई है. परिस्थितियों तथा मेरे उद्दंड स्वभाव ने मुझ में जो इतनी असहिष्णुता भर दी थी, उसी के फलस्वरूप आपको भी न जाने समय-असमय मैंने क्याक्या कह डाला. क्षमा कर दीजिए न!" मेरे आंसू बहने लगे. इन्होंने मेरे आंसू अपनी हथेली से पोंछ कर मेरी पलकों को चूम लिया. "आज तुम सुंदरता की चरम सीमा पर पहुंच गई हो."

✦✦

ह मी दा

वृं दा व न ला ल   वर्मा

श्री वृन्दावनलाल वर्मा का जन्म सन १८८६ में ज़िला झांसी के मऊरानीपुर नगर में हुआ था. हिंदी उपन्यास क्षेत्र में आप प्रथम श्रेणी के उपन्यासकारों में माने जाते हैं. १६०५-७ तक आपने पहले नाटक लिखे जिन में से आठ प्रकाशित हो चुके हैं. फिर कहानियां लिखीं जिनकी संख्या सौ से ऊपर है. उपन्यास आपने सोलह लिखे हैं जिन में से 'विराटा की पद्मिनी', 'लक्ष्मीवाई', 'कचनार', 'अचल मेरा कोई', 'मृग-नयनी' और 'मुसाहिवजू' वहुत प्रसिद्ध हो चुके हैं.

संध्या का समय था. ठंड का दिन था. पटना से कुछ दूर एक गांव के पास से बहती हुई चौड़ी नदी में एक डोंगी चली जा रही थी. डोंगी में चार हिंदू थे और एक मुसलमान लड़की. हिंदुओं में तीन मल्लाह थे, एक पढ़ालिखा आवारा. पेशावर में मुसलमानों ने हिंदू स्त्रियों को अपमानित किया था और मारा था. पटना ज़िले के उस गांव के कुछ हिंदुओं ने मुसलमानों से पेशावर का बदला चुकाया. यह लड़की उस गांव के भागे हुए मुसलमानों के समूह की थी. उन चार में से पढ़ालिखा आवारा घूमतेघामते अकस्मात इन मल्लाहों से आ मिला था. बिना किसी बड़े प्रयास के वह मुसलमान लड़की हाथ पड़ गई. बिना किसी बड़े प्रयास के उसको चौड़ी नदी की मझधार में डुबो देने का निश्चय कर लिया गया.

लड़की का सुंदर मुख कुम्हलाया हुआ था. प्यास के मारे उसका गला सूख गया था. उस कड़ी ठंढ में भी वह डर के मारे पसीने में तर थी. परंतु नदी में से एक अंजली पानी लेने की उसकी हिम्मत नहीं पड़ रही थी. वह जानती थी कि क्या होने वाला है.

लड़की ने गिड़गिड़ा कर कहा, "मुझे मारिए नहीं, मुझ पर रहम कीजिए. मैंने किसी हिंदू का कुछ नहीं बिगाड़ा है."

एक मल्लाह ने डोंगी का डांड़ा खेतेखेते ठहाका मारा, "पेशावर के उन हिंदुओं ने वहां के वहशी मुसलमानों का क्या बिगाड़ा था जो उन्होंने बेक़सूर हिंदुओं का ख़ून बहाया?"

बिलकुल सूखे स्वर में वह लड़की बोली, "पर मैंने या मेरे परिवार वालों ने तो कुछ नहीं किया. मुझे बचा दीजिए, आप सबके हाथ जोड़ती हूं."

मल्लाहों ने परवा नहीं की. मझधार थोड़ी दूर थी.

मल्लाह ने अपने पढ़ेलिखे साथी से पूछा, "माधव बाबू, कुछ और आगे चल कर या यहीं?"

लड़की ने टूटे हुए स्वर में प्राणअर्चना की, "मुझे मत मारिए. आप हिंदू हैं. बिना अपराध चींटी को भी नहीं मारते, फिर मैं तो मनुष्य हूं."

"मनुष्य! किस जाति की मनुष्य? राम, राम!" एक मल्लाह के मुंह से निकला.

माधव ध्यान के साथ नदी की नीली लहरों को देख रहा था. उसका ध्यान जैसे कहीं से उचटा. दृष्टि उस लड़की की आंसुओं से भरी हुई बड़ीबड़ी आंखों पर गई.

माधव ने पूछा, "तुम्हारा नाम क्या है?"

लड़की ने तुरंत उत्तर दिया, "जी, हमीदा."

माधव लड़की को एक क्षण चुपचाप देखता रहा. उस लड़की की उन आंखों में कितनी याचना, लालसा और निस्सहायता थी!

माधव ने चौड़ी नदी की नीली धार को फिर एक क्षण के लिए देखा. एक मल्लाह ने फिर पूछा, "माधव बाबू, कुछ और आगे या यहीं ठप करें?"

माधव ने फिर उस लड़की की ओर देखा. वह थरथर कांप रही थी. आंखों में आंसुओं की धारा थी और हाथ जुड़े हुए. माधव ने गला साफ़ कर के होंठ सटाए. मल्लाहों से कहा, "आगे चलो."

थोड़ी दूर चलने के बाद मल्लाहों ने फिर वही प्रश्न किया. माधव ने फिर वही उत्तर दिया. डोंगी दूसरे किनारे के निकट पहुंचने को हुई. मल्लाहों ने डोंगी को ठहरा लिया.

"अब यहीं," एक ने अनुरोध किया. "पानी काफ़ी गहरा है."

माधव ने मानो सुना नहीं. लड़की से कहा, "हमीदा, तुम जवान हो, मैं भी जवान हूं. मेरे साथ ब्याह करोगी? मैं तुमको हिंदू बना लूंगा."

डूबते को जैसे तिनके का सहारा मिला. तुरंत बोली, "मैं बिलकुल तैयार हूं. मुझे जिंदगी बख्श दीजिए. मैं मरना नहीं चाहती, मैं हिंदू हो जाऊंगी और आपके साथ ब्याह कर लूंगी."

"ठीक, तुम्हें मारा नहीं जाएगा. ले चलो, मल्लाहों, डोंगी को किनारे पर," माधव ने कहा.

एक मल्लाह जल कर बोला, "फिसल गए, माधव बाबू, इस मिट्टी के खिलौने पर! हमारे पड़ोस के एक गांव के न मालूम कितने मल्लाहों को वहां के मुसलमानों ने मार डाला है. इसको मार दो. एक तो कम हो जाएगा."

माधव ने उत्तर दिया, "इसके साथ विवाह कर लेने से एक मुसलमान कम हो जाएगा और एक हिंदू बढ़ जाएगा--यह नहीं देखते हो?"

मल्लाहों ने असहमति प्रकट की, "यह नागिन है, नागिन."

माधव ने प्रतिकार किया, "यह नागिन है, तो मैं नाग हूं."

मल्लाह विवश हो गए. डोंगी किनारे पर लगा दी गई. माधव ने हमीदा को डोंगी में से उतार लिया. उसके सूखे चेहरे पर हर्ष की कुछ रेखाएं बिखर रही थीं जैसे मुरझाए हुए फूल पर ओस की बूंदें.

माधव हमीदा को ले कर एक दिशा में चला गया. एक मल्लाह ने अपने साथियों से कहा, "रोएगा किसी दिन सिर धुनधुन कर. पछताएगा यह छोकरा माधव."

दूसरा बोला, "इसकी नीयत में बल पहले ही आ गया था. बदमाश ने हम लोगों को व्यर्थ ही परेशान किया. खैर."

जितनी आतुरता के साथ कोई व्यक्ति एक धर्म से दूसरे में उलटापलटा जा सकता है, हमीदा उतनी ही अविलंबता के साथ हिंदू बना ली गई. उसी दिन उसका विवाह भी हो गया. रोकटोक का साहस रखने वाला कोई भी माधव के परिवार में न था. बिहार की

पुलिस के भय और चंचल, अशांत अव्यवस्था न धर्म परिवर्तन और विवाह का आयोजन एक ही दिन के भीतर कर दिया. हमीदा का नाम रखा गया शांति.

आज शांति या हमीदा की सुहागरात थी. जब माधव ने कमरे में प्रवेश किया लैंप का काफ़ी प्रकाश था. उसने देखा लड़की के चेहरे पर लाज या संकोच का कोई चिह्न नहीं है. हर्ष नाम मात्र को नहीं--जैसे बलिदान के पहले कोई पशु सुन्न सा रह जाता है. लड़की माधव की ओर ज़रा तिरछी गरदन किए टकटकी लगा कर देखती रही. हाथ जोड़े हुए धीरे से बोली, "आइए."

"हमीदा!"

"जी, नहीं--शांति."

"नहीं--हमीदा. तुम सुखी हो, हमीदा?"

"आपने मेरे प्राण बचाए. आपके साथ मेरा विवाह हो गया है. आप मेरे पति हैं. आपके साथ जीवन बिताना है. सुखी क्यों नहीं हूं!"

माधव कमरे में टहलने लगा. हमीदा नीचा सिर किए खड़ी रही.

"तुम सुखी नहीं हो," एकाएक टहलना बंद कर के माधव ने कहा.

हमीदा के सूखे होंठों पर अत्यंत क्षीण मुसकराहट आई. बोली, "आपको कैसे मालूम?"

माधव बोला, "तुम सौंदर्य की मूर्त्ति हो, हमीदा. परंतु केवल मूर्त्ति." वह फिर टहलने लगा.

हमीदा ने कहा, "आपको और चाहिए ही क्या? पति और चाहता भी क्या है?"

बिना उसकी ओर मुंह किए टहलते हुए ही माधव ने उत्तर दिया, "मूर्त्ति नहीं, मनुष्य चाहिए."

"हूं तो—मानव ही तो हूं."

"कैसी?"

"अभागिन. अपने मांबाप से बिछुड़ी हुई."

"हिंदू धर्म कैसा लगा?"

"कैसा लगा! अभी तो उतना ही देख पाया है जितना उस दिन आपके रक्षक हाथों में दिखलाई पड़ा था."

"और भी देखोगी? गुंडों और आवारों में भी वह कभीकभी दिखलाई पड़ सकता है."

माधव सजेसजाए पलंग पर बैठ गया. हमीदा खड़ी थी. माधव ने कहा, "बैठ जाओ, हमीदा."

वह बोली, "आप भूलते हैं—शांति कहिए."

"नहीं—हमीदा. बैठो, हमीदा."

"कहां?" उसने भावहीन स्वर में पूछा.

"जहां तुम्हारा मन चाहे." फिर माधव ने दृढ़तापूर्वक कहा, "तुम बिलकुल स्वतंत्र हो. जो इच्छा हो वह करो. जहां जाना चाहो जाओ. मैं पत्थर के साथ विवाह की रीति नहीं मनाऊंगा."

हमीदा के पैर लड़खड़ा गए. वह नीचे बैठ गई और बांहों में मुंह छिपा कर बिलखबिलख कर रोने लगी. माधव उठ खड़ा हुआ. उछल कर उसके पास गया. सिर पर हाथ फेर कर बोला, "हमीदा, बुरा मान गईं क्या? मैंने उस दिन तुम्हें नदी की धार में नहीं ढकेला—उसे रक्षा करना कहती हो. आज मैं तुमको जीवन के प्रवाह में नहीं ढकेलूंगा. मेरा मतलब केवल इतना ही है. मैंने तुम्हारा अपमान करने के लिए कुछ नहीं कहा."

अपने को नियंत्रित कर के हमीदा ने कहा, "आपने मेरे साथ इतनी बड़ी नेकी की है कि अहसान कभी चुकाया नहीं जा सकता. मैं आपके साथ अपना जीवन बिताने को तैयार हूं."

माधव पलंग पर फिर जा बैठा. बोला, "तुम यदि अपने माता-

पिता और परिवार में फिर जा मिलो तो भी यह बात कह सकोगी?"

"क्या मैं सच बोलूं?" हमीदा ने सिर नीचा किए हुए पूछा.

"अवश्य," माधव ने उत्तर दिया.

हमीदा बोली, "नहीं कह सकती. शायद उस बात को वहां नहीं दोहरा सकूंगी."

"हमीदा," माधव ने कहा, "मैं सचमुच बहुत प्रसन्न हूं. विवाह और बलात्कार दो बिलकुल अलगअलग चीज हैं. क्या तुम मुझे एक वचन दे सकोगी?"

"क्या?"

"तुम भूल जाओ उस स्वांग को जो ब्याह के नाम से आज हुआ है."

"कैसे?"

"मेरे और तुम्हारे सिवा और कोई इसको नहीं जानने पाएगा, अन्यथा शायद कुछ दिक़्क़त में पड़ जाओ. दिन में हम लोग संसार के सामने पतिपत्नी और रात में एकदूसरे से बिलकुल अपरिचित."

"हो सकता है, माधव बाबू. पर मैं अपने कुटुंब को कैसे पाऊंगी? कब पाऊंगी?"

"मैं कोशिश करूंगा."

"आप किसी आफ़त में तो नहीं पड़ जाएंगे?"

"बिलकुल नहीं. सच्चाई पर चलने वाले के पास आफ़त आती कहां है!"

वे दोनों कुछ क्षण चुप रहे. हमीदा ने सिर उठाया. माधव ने देखा उसके होंठों पर मृदुल मुसकराहट थी और आंखों में ओज.

हमीदा ने कहा, "हिंदू, मुसलमान—दोनों में यह रिवाज है कि किसी को कोई बहन मान ले तो यह पवित्र कल्पना दोनों की रक्षा करने में बड़ी सहायता करती है."

माधव ने हंस कर कहा, "मुझ सरीखे आवारा गुंडों के लिए इस कल्पना का थोड़ा सा ही मूल्य है. मैं पूछता हूं, हमीदा, क्या बिना इस प्रकार के विचार या आड़ओट के स्त्रीपुरुष एकदूसरे का मान या पवित्रता नहीं बनाए रख सकते?"

हमीदा उछल कर खड़ी हो गई. उसका चेहरा उमंग से खिल गया और आंखें भर गईं. बोली, "माधव बाबू, आप अपने को गुंडा आवारा कहते हैं! गुंडे पेशावर में हैं और न जाने कहांकहां. आप सरीखे यदि और बहुत से होते तो यह देश ऊंचा न उठ जाता!"

"ऊंचा उठ जाता! मुझ सरीखे लोगों के बोझ से ही तो यह देश इतना दबा हुआ है," उसने कहा. "अच्छा, अब तुम सो जाओ, हमीदा. कल से तुम्हारे परिवार की खोज करूंगा."

माधव तुरंत उस कमरे से बाहर चला गया. हमीदा चुपचाप देखती रही.

भगाई हुई स्त्रियों की तलाश करतेकरते पुलिस को हमीदा का भी पता लग गया. इस अनुसंधान में माधव ने भी कुछ सहायता की थी.

माधव ने आ कर हमीदा से कहा, "तुम्हारे परिवार का पता लग गया है. पुलिस आई है. साथ में तुम्हारा भाई है."

हमीदा बोली, "सोचती हूं मैं न जाऊं."

"क्यों?"

"क्योंकि घर में मुझे संदेह की निगाहों से देखा जाएगा. मेरी पवित्रता में विश्वास नहीं किया जाएगा. मेरा जीवन दुखभरा बीतेगा."

"बिलकुल नहीं. मैं सौगंध खाऊंगा, गंगाजली उठाऊंगा तुम्हारी पवित्रता को प्रमाणित करने के लिए. उन लोगों को विश्वास करना पड़ेगा."

"पर मैं जाना नहीं चाहती. लोग क़समों का विश्वास बहुत कम करते हैं."

"अवश्य करेंगे. चलो मेरे साथ."

"आप उन लोगों से कह सकेंगे कि आपने मुझे अपनी सगी बहन की तरह रखा है?"

"कोई जरूरत नहीं ऐसा कहने की."

"अच्छी बात है. चलिए. परंतु यदि उन लोगों ने मेरा अपमान किया या मुझे अस्वीकार किया तो लौट आऊंगी."

"और यदि सम्मान के साथ स्वीकार कर लिया तो कभीकभी एक शब्द अपनी कुशल का लिख भेजा करोगी?"

हमीदा का गला भर आया. "क्या कभी भूल सकूंगी?" उसने कहा. माधव हमीदा को उसके परिवार के हवाले कर आया. बिदा के समय हमीदा ने माधव को प्रणाम किया. उसकी आंखों में उसने जो कुछ उस समय देखा, शब्दों में व्यक्त नहीं कर पाया. सोचा आज सचमुच उसने शांति को पा लिया.

ग़ लत फ़ ह मी

स्वा मी ना थ

श्री स्वामी

में शिमला में हुअ

तीय होने पर भी

से ही प्रेम रहा

कविताएं, एकांकी न

लिखी हैं. दो वर्ष

उपसंपादक भी रहे हैं.

कांता का यौवन बीत चुका था. उमर यही कोई सैंतीस वर्ष की होगी. जीवन के रचनात्मक कार्य को काल के कुटिल करों ने नष्ट करना आरंभ कर दिया था. बालों में सफ़ेद रेखाएं खिंच गई थीं. नेत्रों की ज्योति मंद पड़ गई थी और एक समय का सुंदर चेहरा अब निस्तेज हो गया था. वह एक सूखी बेल के समान जीवन तरु से अब भी लिपटी हुई थी, यद्यपि जीवन के प्रति उसकी जिज्ञासा, उसका आकर्षण कभी का ख़तम हो चुका था. हृदय का मंद स्पंदन मानो अतीत के किसी सुमधुर संगीत की प्रतिध्वनि मात्र था. वह उस अभिनेत्री के समान थी जो नाटक में अपनी भूमिका के प्रति प्रारंभिक उत्साह समाप्त हो जाने के बाद केवल यंत्र के समान अपना एकरस अभिनय करती रहती है.

सुबह छः बजे उठ कर चौके में घुसना, चूल्हा जला कर दूध गरम करना, चाय बना कर बच्चों को, जो अब बड़े हो गए थे, पिलाना, फिर दफ़्तर जाने वाले लड़के के लिए भोजन बनाने में संलग्न हो जाना, कमरों की सफ़ाई करना, कपड़े धोना, पति को, जो अवकाश प्राप्त कर अपनी पेंशन के थोड़े से रुपयों से गृहस्थी को चलाने का भरसक प्रयत्न कर रहे थे, खिलाना, फिर परिवार के अन्य सदस्यों को खिला कर बचा-खुचा स्वयं खा कर कुछ देर विश्राम करना, और फिर शाम को उसी काम में संलग्न हो जाना. सुबहशाम जो कल किया, वही आज और फिर वही कल, परसों; एक नियमित गति, एक पूर्व निश्चित मार्ग; कोई नवीनता नहीं, परिवर्तन की गुंजाइश नहीं, एकरस...दीमक के समान इस एकरसता ने उसके जीवन की जड़ों को खोखला कर दिया था. यौवन के साथ ही उसका जीवन भी ख़तम हो चुका था. उसका वर्त्त-मान अस्तित्व, जीवन के ये सारहीन दिवस उसके लिए आवश्यकता से

अधिक निष्प्रयोजन थे.

कांता रूढ़िवादी विचारों की दासी थी. सास ने उसे जो कुछ सिखाया, वही उसका धर्म बन गया. उसकी बौद्धिक विचारधारा का क्षेत्र बहुत ही सीमित, संकुचित था; कर्म और कर्त्तव्य के उसके अपने ही रूढ़िगत सिद्धांत थे. वह इस बदलते हुए वातावरण में अपने को अवलंबहीन पा रही थी. उसके पुत्र प्रगतिवाद, समाजवाद, मध्यवर्ग का असह्य अस्वस्थ जीवन, सार्वजनिक शिक्षा, रोटी का प्रश्न, आर्थिक समानता--न जाने क्याक्या बातें किया करते थे. कांता उनकी बातों को नहीं समझ सकती थी, उनके उत्साह को नहीं समझ सकती थी; उसकी दृष्टि में लड़के आवारा हो गए थे, नासमझ थे. वे धर्म का मजाक़ उड़ाते और ईश्वर की निंदा करते; कांता उनको नास्तिक और कपूत कहती. वह विधाता के विधान में विश्वास रखती थी; अमीर इसलिए अमीर थे कि उनके भाग्य में अमीरी लिखी थी, ग़रीब इसलिए ग़रीब थे कि वह उनका दुर्भाग्य था.

कांता के पति के अवकाश प्राप्त होने के साथसाथ परिवार को ग़रीबी और कठिनाइयों ने घेर लिया. कांता के रिश्तेदारों ने भी जो अधिकतर संपन्न थे और जिनके उदाहरण देदे कर कांता अपने पति और लड़कों के नाक में दम किए रहती थी, उसकी ओर से मुख मोड़ लिया. जिन रिश्तेदारों के गुण गाते एक समय कांता न थकती थी, अब वही उसकी आंखों का कांटा बन गए. सब उस से धीरेधीरे अलग हो गए, और वह अपने एकाकीपन को अनुभव करने लगी.

उसके तीन लड़कों में से सब से छोटे की मृत्यु हो चुकी थी. बड़ा शादी हो जाने के कारण मां या परिवार में अधिक दिलचस्पी नहीं लेता था. मझला, रमण, सब से अधिक उद्दंड और मनचला था. वह एक विचित्र युवक था. उस में साहित्यिक प्रवृत्तियां थीं, किंतु उसकी भावनाएं अभी अपरिपक्व थीं. वह एक अच्छा चित्रकार बन सकता था, उस में प्रतिभा थी. वह अत्यंत क्रोधी था, अत्यधिक भावुक भी. ट

अपनी मां के साथ बड़ी बुरी तरह पेश आता. उसका परिवार के अन्य सदस्यों के साथ निरंतर एक झगड़ा चल रहा था—वर्षों पुराना झगड़ा.

तब वह नन्हा शिशु था, बहुत नटखट और हठी. सब उसे प्यार करते थे. उसकी शैतानी सबको भली लगती और उसे प्रोत्साहन भी दिया जाता. जब वह आठ वर्ष का हुआ तो उसे डांटफटकार पड़ने लगी. जब कभी वह मनमानी करता तो पीटा जाता. उसका नन्हा हृदय विद्रोह कर उठा. मातापिता के प्यार में एकाएक इस परिवर्तन को वह समझ नहीं सका. वह अलगअलग रहने लगा, और दिन-पर-दिन उद्दंड होता गया. जितना पिटता उतना ही अधिक ऊधम मचाता. उसके छोटे भाई को जब प्यार से पुचकारा जाता तो उसके तनमन में आग लग जाती. उसको रास्ते पर लाने के सब प्रयत्न विफल रहे.

उस समय वह आठवीं कक्षा में पढ़ रहा था. स्कूल में उसने अपने ड्राइंग मास्टर को एक लड़के को सामने बैठा कर उसका चित्र बनाते देखा था. जब वह घर लौटा तो अपनी छोटी बहन को सामने बैठा कर पेंसिल से उसका चित्र बनाने का प्रयत्न करने लगा. कभी एक लाइन खींचता, फिर रबड़ से मिटा देता. बहन ऊब रही थी. उठती हुई बोली, "मैं नहीं बैठती अब, इतनी देर लगा दी!" वह जाने लगी.

रमण ने उसकी बांह पकड़ ली. "चुपके से बैठ जा. बीच में उठ कर जाती है, पहले क्यों आई थी? बैठी रह वरना मारूंगा!" उसे क्रोध आ रहा था. अनेक प्रयत्न करने पर भी चित्र ठीक नहीं बन पा रहा था. जब छोटी बहन उठ कर भागने लगी तो उसने खींच कर उसके एक चांटा मार दिया. गाल पर उंगलियों के निशान पड़ गए. वह चीखचीख कर रोने लगी.

अंधाधुंध बेंत जड़ दिए. रमण का सिर झुका हुआ था. लज्जा और क्षोभ से उसका मुख आरक्त हो गया. वह इस अपमान को न सह सका.

उसके आत्माभिमान को चोट लगी थी. शरम के मारे उसका झुका हुआ सिर उठ न सका. शाम को जब छुट्टी हुई तो अन्य बालक मिल कर उसका मज़ाक़ उड़ाने लगे. उसकी दशा दयनीय थी. वह अपने आंसुओं को बरबस रोके हुए था. यदि इस समय उस से कोई एक प्यार का शब्द कह देता तो बाढ़ के समान आंसुओं की धारा अपने क्षीण बंधनों को तोड़ कर बह चलती. प्यार के अभाव में वह अत्यधिक भावुक बन गया था. जब वह घर पहुंचा तो धैर्य का बांध टूट गया. क्रोध का पारावार न रहा. अपने बस्ते को उसने एक ओर फेंक दिया और दौड़ कर मेज पर से फूलदान को उठा कर ज़मीन पर पटक दिया. टुकड़े चारों ओर बिखर गए. मां सामने बैठी तरकारी काट रही थी. पुत्र की दयनीय दशा को देखा तो उसका हृदय पसीज गया. रमण को ज़बरदस्ती अपनी गोदी में ले कर पुचकारती हुई बोली, "कोई बात नहीं, बेटा. रो मत, कोई बात नहीं..."

लेकिन उस दिन से उसके और परिवार के बीच में एक ख़ाई सी बन गई थी, और दिन-पर-दिन यह खाई गहरी और चौड़ी होती गई. स्कूल में कई बार चिट्ठियां गईं, उसका अपमान किया गया, सारे स्कूल के सामने उसे एक बार बेंत भी लगाए गए. वह सर्वथा आचारभ्रष्ट हो गया था. एक दिन अध्यापक ने अगले दिन सारी कक्षा को सैर के लिए कहीं ले जाने का वादा किया, और सब लड़के हर्ष और आनंद से चिल्लाने लगे. रमण भी हर्ष से तालियां बजा रहा था. रमण को सैर करना बहुत पसंद था. किंतु अगले ही क्षण अध्यापक ने कहा कि रमण को नहीं ले जाया जाएगा. उसकी सारी प्रसन्नता एकाएक निराशा में परिवर्तित हो गई. रात को वह बिस्तर पर औंधे मुंह लेटा बड़ी देर तक बिलखता रहा.

उसने घर की कई क़ीमती चीज़ों को तोड़फोड़ दिया था. उसके मातापिता भी मानो उसके पीछे पड़ गए थे. उन्होंने उसके प्रति ग़लत रुख़ इख़्तियार किया था. कहते हैं कि जहां जबरदस्ती से किसी पर वश नहीं चलता, वहां प्रेम के द्वारा आसानी से काम निकल जाता है. रमण पर तो प्रेम का एक शब्द भी जादू सा असर करता. किंतु इसके विपरीत उसकी निंदा की गई. उसके विनोद और आनंद के सभी द्वार बंद कर दिए गए. विद्रोह की भावना उसके हृदय में प्रबल होती गई. वह प्रेम और सहानुभूति के लिए लालायित था. मांबाप अपने पुत्र की भलाई ही चाहते थे. किंतु वे उसके मस्तिष्क की मनोवैज्ञानिक दशा को समझने में असमर्थ थे. रमण समझौता करने के लिए तैयार न था. बात बढ़ती गई.

रमण ने जब युवावस्था में पदार्पण किया तो वह अपने माता-पिता के झगड़ों के मूल कारणों को समझने लगा, और उसकी घृणा और भी तीव्र हो गई. भीतर-ही-भीतर मां बेटे--दोनों ही अत्यधिक भावुक थे. दोनों एकदूसरे के अवलंब हो सकते थे. कांता को पुत्र-स्नेह की आवश्यकता थी, रमण को मां की ममता की आवश्यकता थी. किंतु दोनों मानो अंधे हो गए थे.

रमण जो प्रेम घर पर नहीं पा सका, उसे बाहर खोजने लगा. उसे अपने कालिज की एक लड़की से प्रेम हो गया. इस प्रेम के आवेश में वह अपनेआप को भूल गया. हृदय में इतने वर्षों से छिपा हुआ प्यार उमड़ आया. यह प्रेम निष्कलंक, स्वच्छ था. यौवन में पदार्पण करने वाले एक युवा हृदय की नैसर्गिक प्रतिक्रिया थी. किंतु संसार में प्रेम की भिक्षा चाहने वाले अधिक हैं, दान करने वाले कम. प्रारंभ में तो वह युवति भी उसकी ओर झुकी, किंतु शीघ्र ही उसने पहचान लिया कि यह तो केवल एक साधारण भावुक युवक है. उसके हृदय में थोड़ी सी सहानुभूति, थोड़ी सी दया, और कहीं से मातृत्व की भावना

उपजी. किंतु शीघ्र ही लुप्त भी हो गई. रमण दो वर्ष तक भटकता रहा. फिर उसके प्रेम का पहला अंकुर सूख कर झड़ गया.

वह जीवन से निराश हो गया. वह स्वभाव से बुरा नहीं था, किंतु उसकी आत्मशक्ति बहुत क्षीण थी. वह बुरी संगति में पड़ गया. उसे मालूम था कि वह जो कुछ कर रहा है, ठीक नहीं कर रहा है, फिर भी उस में अपने को रोकने की शक्ति नहीं थी. वह रात को देर से घर लौटता. घर के झगड़े दिन-पर-दिन बढ़ रहे थे.

एक दिन रमण घर छोड़ कर भाग गया. दोष किसी का नहीं था. न माता का, न पिता का, और न उसका अपना ही. दोष वातावरण का था. मध्यवर्ग का बोझिल, कुंठित, सीमित वातावरण, जिस में रेंगते हुए प्राणी एक नीरस, अवांछित जीवन व्यतीत करते हैं. दम धीरेधीरे घुटता है, प्रतिभा विकसित होने के पहले ही नष्ट हो जाती है. एक विषैली गैस के समान वातावरण की दूषित वायु उस में पलने वाले प्राणियों की नसनस में व्याप्त हो जाती है. और वे सड़ने लगते हैं, सड़ते रहते हैं. स्वच्छंद स्वस्थ जीवन व्यतीत करने की तीव्र अभिलाषा होते हुए भी उन में सदियों पुरानी रूढ़ियों की शृंखला को तोड़ने की क्षमता नहीं. वे इतने शक्तिहीन हो चुके हैं. और इसकी प्रतिक्रिया दैनिक कलह के रूप में प्रस्फुटित होती रहती है.

रमण यह सब अनुभव करने लगा था. उसकी नसों में स्वच्छंद, स्फूर्तिदायक यौवन की तरंगें हिलोरें ले रही थीं. उसका दम घुट रहा था. वह स्वतंत्र होना चाहता था. उसके सम्मुख एक अलंघ्य दीवार थी, जिसे तोड़ने की शक्ति उस में नहीं थी. वह मुड़ कर भाग खड़ा हुआ. वह सोचता था कि वह अपने परिवार से दूर भाग रहा है. लेकिन वह वास्तव में परिवार से नहीं, वातावरण से दूर भाग रहा था.

कांता के एकरस जीवन में एकाएक परिवर्तन आ गया. उसे स्वप्न में भी ऐसी घटना घटने की आशा नहीं थी. उसका सोया हुआ मातृस्नेह जाग उठा. रमण चला गया—कहां, क्यों गया? मैंने ही उसे भगाया. हां,

मैंने ही... मैं ही दोषी हूं... जिस पुत्र से वह नित्य झगड़ा करती थी, जिसका नित्य तिरस्कार करती थी, उसी के लिए फूटफूट कर रोने लगी. नित्य पास रहने के कारण वह अपने जीवन में रमण के महत्त्व को नहीं समझती थी. शायद उसे स्वयं भी नहीं मालूम था कि रमण उसके लिए कितना आवश्यक है.

अब वह भावुकता की एक प्रबल लहर में बह गई. रात को बैठेबैठे उसके नेत्रों से आंसुओं की धारा बह निकलती. असीम व्यथा से वह द्रवित हो उठी. उसे अपना सारा जीवन अर्थहीन, व्यर्थ लगता. उसे किसी के स्नेह के अवलंब की आवश्यकता थी. उसे भाग्य और विधि में दृढ़ विश्वास था. उसे आसानी से विश्वास हो गया कि रमण ही उसका अवलंब है, और पिछले कर्मों के दंडस्वरूप विधाता ने रमण को उस से अलग कर दिया है. उसने अपनी सारी भावनाओं को रमण पर केंद्रित कर दिया. लेकिन वह तो अब न जाने कहां चला गया था. दूर, बहुत दूर...

रमण भाग तो आया लेकिन भावावेश में उसने विचार नहीं किया था. रोटी का प्रश्न उसके सम्मुख विशाल रूप धारण कर आ खड़ा हुआ. अब भागने की कोई राह न थी. वह घर लौट सकता था किंतु उसका आत्माभिमान उसे ऐसा करने से रोक रहा था. उसने कई जगह नौकरियां ढूंढ़ीं, किंतु कहीं न मिली. जीवन की कठिनाइयां उग्र रूप धारण कर उसके पथ पर छा गईं. उसकी भावुकता इस कटु सत्य के सम्मुख खंडित हो कर ढह गई. संसार कितना गंदा है! उसे लगा कि मानो संसार के इन लोभी, पाखंडी, स्वार्थी लोगों से उसके घर वाले कहीं अच्छे थे. उसे अपने घर की याद आने लगी. वह जीवन के अठारह वर्षों में पहली बार अपनी मां के बारे में सोचने लगा.

रमण तीन दिन से भूखा था. उसने देखा एक रेस्टोरां के अंदर अच्छेअच्छे कपड़े पहने हुए बहुत से लोग हंसतेबोलते खा रहे हैं. उसकी आंतों में एकाएक दर्द सा हुआ. मस्तिष्क में विचारों का बवंडर सा

को उसी ने घर से भगाया है. बेचारा न जाने कहां भटक रहा होगा. भूखा होगा, न जाने कब का भूखा होगा, शायद इस समय भी भूख से व्याकुल होगा. रोटी का कौर गले में ही अटक जाता था. रात को उसे लगता कि रमण उसकी शैया के पास खड़ा हो कर उसे पुकार रहा है, शिकायत कर रहा है कि, मां, भूख लगी है, जोरों से भूख लगी है...वह एकाएक बिस्तर से उठ बैठती, "रमण! रमण, तू आ गया..."

रात का वक़्त था. किसी ने द्वार खटखटाया. रमण के बड़े भाई ने जा कर द्वार खोला. देखा रमण सामने खड़ा है. वह चौंका. रमण चुपके से अंदर घुस गया. भाई पीछेपीछे चला. कांता सोई हुई थी. रमण उसकी शैया पर बैठ गया. क्लांत चेहरे को निहारने लगा. कांता की आंखें धीरे से खुलीं. उसका हृदय धकधक करने लगा. कहीं स्वप्न तो नहीं है? वह आंखें मलती हुई उठी. उसने अपने हाथ आगे बढ़ा दिए. "रमण! रमण!"

रमण ने अपनी बांहें मां के गले में डाल दीं. अपना सिर उसके वक्ष पर रख दिया. कांता ने उसे अपने बाहुपाशों में कस लिया. "रमण! रमण, मैं बड़ी मूर्ख हूं, मुझे माफ़ कर दे...मुझे कभी छोड़ कर न जाना. सब मेरी ही ग़लती है, मेरा ही दोष है, लेकिन मुझे..."

रमण की आंखों में आंसू आ गए. मां के इस कोमल, ममतामय, सुखद आलिंगन से उसका हृदय गद्गद हो उठा. उसके हृदय में वर्षों से दबी हुई भावनाएं जाग्रत हो उठीं. उसके हृदय का सारा विषाद घुल गया. प्रेम, बस केवल प्रेम...उसका हृदय भर आया. "नहीं, नहीं, मां, मैं जानता हूं कौन दोषी है...मैं जानता हूं!" ◆◆